ॐ

श्रीवीतरागाय नमः ।

सनातनजैनधर्म

अथवा

जैनधर्मकी प्राचीनताके ज्वलन्त प्रमाण ।

मूल लेखक और प्रकाशक—

श्रीमान् चम्पतरायजी जैन बैरिष्टर-एट-ला,

हरदोई ।

प्रथमावृत्ति १००० } पौष, वीरनिर्वाण संवत् २४५० जनवरी १९२४ ई० { न्योछावर

भूमिका।

प्रिय पाठकगण !

यह हमारे परम सौभाग्यका अवसर है कि इस ऐतिहासिक और शास्त्रीय उद्यानके अपूर्व सुमनको लेकर मैं आपके समक्ष आज उपस्थित होता हूं। यद्यपि मैं न कोई प्रसिद्ध लेखक अथवा विद्वान् ही हूं, तथापि इस शास्त्रीय उद्यानमें एक सुमनकी सुचारु गन्धने मेरे हृदयमें एक अभिनव उल्लास उत्पन्न किया, यह कृति उसीका फल स्वरूप है। मैंने इस उस उद्यानसे चुनकर धर्म के प्रशस्त उद्यानको सुसज्जित करके इसकी शोभा वृद्धि करनेके लिये प्रयत्न किया है। हाँ, सुसज्जित करनेकी प्रशंसनीय प्रणाली एक दूसरे विख्यात एवं स्वनामधन्य विद्वान् लेखककी है। केवल कुशल कारीगरकी कुदरती करामातकी खूबी दिखानेवाला मैं हूं। आशा है, इस सुमनके सौरभसे शास्त्रीय उद्यानके रसिया भौंरोंका मन यथेष्ट लुब्ध मुग्ध होगा। इस सुमनके नव विकाससे जो नूतन सुगंधि हर ओर फैलेगी, विश्वास है कि उससे द्वेषका विनाश और सत्य तथा अहिंसा का यथेच्छ प्रचार होगा और भारत-माताकी पुनीत आत्माकी दिव्य ज्योति भ्रम और शंकाकी अंधियारी दूर कर देगी। मैं नहीं समझता कि इस सुमनको नया रूप रंग देनेमें मुझे कहाँ तक सफलता हुई है।

अन्तमें मैं जैनधर्म के अभ्युदयके कार्यमें तल्लीन रहनेवाले, हिन्दी माताके गौरववर्द्धक सुपुत्र अपने परम प्रिय भ्राता स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैनकी पवित्र आत्माका स्मरण किये तथापि कृतज्ञवाद की सुमनांजली समर्पण किये बिना नहीं रह सका, जिनकी कृपासे अनेक सुमन धर्मके उद्यानमें आरोपित और पल्लवित होकर विकसित रूपमें प्रकट हुए हैं। इस सुमनके प्रकाशका भी बहुत कुछ श्रेय उन्हीं की आत्माको प्राप्त है।

मेरी आशा है कि सभी धर्मनिष्ठ सज्जन इस ज्वलन्त प्रमाणों वाली निराली पुस्तकको एक बार ध्यानपूर्वक तथा निष्पक्षता पूर्वक पढ़कर मेरे परिश्रमको सार्थक करेंगे।

७-८-२३]

के० पी० जैन.

शुद्धाशुद्ध सूची।

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
२	४	।"	।'
३	१३	विचर	विचार
५	४	होगी	होगा
६	१	जन	जैन
„	२१	को। मानव	को मानव
७	२०	इसस	इससे
८	१४	उनकी	उनके
९	५	तप जो मनुष्य	तप मनुष्य
१०	६	देवताओंको फल	देवताओंको
११	१४	है।	है
१२	३	असम्भव है	असम्भव हैं।
„	१५	आत्माका	आत्माके
१६	३	करीब	करीब २
„	३	जैनोलोग।	जैनीलोग,
„	७	आलयका	आलयके
„	२३	प्राचीन हैं।	प्राचीन है।"

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
२३	१	मिला	मिलता
२७	५	ईश्वरको	ईश्वर
३०	१९	माजन	मोजन
३८	६	असम्भव	सम्भव
"	१२	आयात	आयत
"	२२	प्राणों	प्रणों
४३	१०	की लहर	की उस लहर
"	१३	की	के
"	१६	वर्णन है.	वर्णन
४५	७	क़ुओं	कोमों
४६	४	धर्मकी	हिन्दू धर्मकी
"	१९	काज़ि	क़ौल
४७	१६	दर्शायेंगे।	दर्शायेंगे
"	"	अमरको	अमरके कि
४८	२०	अप्रबल	प्रबल
४९	१२	समय	समयवाली
"	१७	उनको	उनकी
४९	१९	अतिरिक्त,	अतिरिक्त कुछ
६०	१५	वर्णन न करेंगे,	वर्णन करेंगे
"	१३	"आशा	"१. आशा
६१	२	ख़लिस	ख़ालिस

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
६२	४	शब्दों	जिन शब्दों
,,	,,	हैं और	है
६४	१६	आयु	आयुस
,,	२०	कम	कर्म
६५	७	इस	उस
,,	१३	जाजैन	जो जैन
६७	५	होते हैं,	होते हैं।
,,	६	होते हैं	रहते हैं
६८	१२	संस्या	संख्या
७१	७	अपने	पन
,,	८	दूर नहीं	दूर ही नहीं
,,	१०	दृश्य दिखलाती	दृश्य भी दिखलाती
७२	११	प्रारब्धोंका	प्रारब्धोंकी
७३	३	उसको	उसको
,,	४	प्रमाणिक	प्रमाणित
७६	१	तुला	तुलना
७७	१६	(Gifto)	(Gifts)
७९	६	(boulble)	(double)
८०	५	आधात्मा	जीवात्मा
८१	१३	जोकि	गोकि
,,	१५	बगैरह	बगैर

पृष्ठ	सतर	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१७	माईका	माईके
८४	१६	शिष्योंका	शिष्योंको
८५	७	सकबाल	पकबाल
८६	७	तातियाका अंगरेजी	तातियाका
		अनुवाद प्रकाश	प्रकाश
८८	११	तत्वोंमें	तत्वोंमें न
८९	८	शरार	शरीर
,,	२०	अपनावश्यकीय	अनावश्यकीय

श्रीवीतरागाय नमः ।

जैनधर्मकी प्राचीनता।

श्रीतीर्थंकरप्रणीत मत अथवा जैनधर्मकी उत्पत्तिका विषय पूर्वी भाषाओंके विद्वानोंके लिये जिन्होंने इसके विकाश प्रति अनेक मनमानी कल्पनायें रची हैं, भ्रम और भूलका एक मुख्य कारण रहा है। कुछ समय पूर्व यह अनुमान किया जाता था कि ईसाकी छठीं शताब्दीमें जैन धर्म बौद्ध-धर्मकी शाखारूपसे प्रस्फुटित हुआ था और भारतीय इतिहासमें भी जो हमारे स्कूलोंमें कुछ समय पूर्वतक पढ़ाया जाता था यही शिक्षा दीजाती थी। परन्तु नई खोजने यह पूर्णतया प्रमाणित कर दिया है कि "यह (जैन) धर्म महात्मा बुद्धसे कम से कम तीन ३०० सौ वर्ष पूर्व विद्यमान था और आधुनिक पूर्वी भाषाभाषी विद्वान अब इस बात पर सहमत हो गये हैं कि २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ स्वामी कोई काल्पनिक व्यक्ति न थे बल्कि एक ऐतिहासिक पुरुष हुये हैं।" इस व्याख्याके सत्य होनेके

हेतुमें विशेष प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। केवल निम्न लिखित विद्वानोंके वाक्य ही यह पूर्णतया दर्शा देंगे कि "बौद्ध धर्म जैन धर्मका निकासस्थान किसी प्रकार नहीं हो सक्ता।"

डा० टी० के० लड्डूका* कथन है कि "वर्द्धमान महावीर स्वामी से पूर्व जैन समयके इतिहास की कोई विश्वसनीय खोज हम नहीं कर सके, परन्तु यह निश्चय है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पहलेका है; और उसको महावीर स्वामीके पूर्व पार्श्वनाथ या किसी और तीर्थंकरने स्थापित किया था।"

महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणका + भी इस विषयमें दृढ़ विश्वास है और वह लिखते हैं कि यह निश्चित समझा जा सक्ता है कि—

"इन्द्रभूति गौतम जो महावीर स्वामीके गणधर थे और जिन्होंने उनकी शिक्षाओंको एकत्रित किया था, बौद्धधर्म के प्रचारक गौतमबुद्ध, और ब्राह्मण न्यायसूत्रोंके रचयिता अक्षपाद गौतमके समकालीन थे।"

योरुपीय विद्वानोंकी ओर दृष्टि डालते हुये इन्सायक्लोपीडिया

---

* देखो—

डाक्टर लड्डूसाहबका संपूर्ण व्याख्यान अंग्रेजी भाषामें जिसको मंत्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशीने प्रकाशित किया है।

+ अंगरेजी जैनगजट भाग १० अंक १ देखो।

आफ़ रिलीजन ऐण्ड ईथिक्स (भाग ७ पृष्ठ ४६५) के निम्न लिखित वाक्यको सर्वोपरि अन्तिम सम्मति समझनी चाहिये।

" बावजूद उस पूर्ण मत-भेदके जो उन के सिद्धान्तोंमें पाया जाता है जैनमत व बुद्धमत जो दोनों अपने प्रारंभिक समयोंमें ब्राह्मण धर्मकी सीमाके बाहर थे बाह्य स्वरूपमें कुछ कुछ एक दूसरेसे मिलते हैं। जिसके कारण भारतीय लेखक भी उनके सम्बधमें कभी कभी भ्रम में पड़ गये हैं। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने जिनका जैन धर्मका परिचय जैन साहित्यके अपूर्ण दृष्टिगत पर ही निर्भर था स्वयं सहजही में यह मत स्थिर कर लिया कि वह बुद्धमत की शाखा है। लेकिन तबसे यह निस्सन्देह सिद्ध हो गया है कि उनका विचार असत्य है और जैन मत कम से कम उतना ही प्राचीन है जितना बुद्धमत। क्योंकि बुद्धमतके शास्त्र जैन धर्मका उल्लेख उनके प्राचीन नाम "निग्रन्थ" से एक समकालीन विपत्ती मतके समान करते हैं ....व उनके प्रचारक नातपुत्र (नात और नाती पुत्र जैन मतके अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीरका उपनाम था)का वर्णन करते हैं और वह जैनियोंके कथनानुसार 'पावा' को उक्त तीर्थंकरका निर्वाणक्षेत्र बतलाते हैं और दूसरी ओर जैनियोंके शास्त्र उन्हीं राजाओंको महावीरका समकालीन बताते हैं जो उनके विपत्ती मतके प्रचा-

एक बुद्धके समयमें राज्य करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि महावीर, बुद्धके समकालीन थे और अनुमानतः बुद्ध से जो उनके 'पावा' पुरीमें निर्वाणको प्राप्त होनेके पश्चात् भी जीवित रहा, कुछ पहिले हुए थे। परन्तु महावीर बुद्ध की भांति उस मतके व्यवस्थापक न थे जो तीर्थंकरके समान उनका सम्मान करता है और न उस मतके प्रारंभिक संचालक थे........उनके पूर्वके पार्श्व नामक २३ वे तीर्थंकर जैन धर्मको संस्थापक कहे जानेके अधिक योग्य ज्ञात पड़ते हैं................परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणोंके अभावमें हम अनुमानसे आगे बढ़नेका साहस नहीं कर सके।"

हम डा० जोन्स जार्ज ब्युहलर C. I. E L. L. B. Ph D का भी प्रमाण देते हैं जो अपनी 'दि जैन्स' नामक पुस्तकके पृष्ठ २२-२३ पर लिखते हैं कि—

"बौद्धधर्मावलम्बी स्वतः ही जैनियोंके तीर्थंकरसंबन्धी कथनकी पुष्टि करते हैं। प्राचीन ऐतिहासिक व्याख्याएं व शिलालेख भी बुद्धकी मृत्युके पश्चातकी प्रथम पांच शताब्दियोंमें जैन धर्मकी स्वतन्त्रताको सिद्ध करते हैं और शिलालेखोंमें कुछ ऐसे हैं जो जैन पुराणोंको केवल कपोल कल्पित गढ़न्त (Fraud) होनेके कलङ्कसे ही मुक्त नहीं कर देते हैं किन्तु उनकी सत्यताके दृढ साक्षी हैं।"

अब इस विषयपर केवल एक दूसरे विद्वान, मेजर

जेनरल जे० जी० आर० फारलांग, एफ—आर—एस—ई, एफ आर—ए—एस एम० ए० आई इत्यादि की सम्मति 'शोर्ट स्टडीज इन दि साइन्स आफ़ कम्परेटिव रेलीजन्स' के पृष्ठ २४३—२४४ से उद्धृत करना ही पर्याप्त होगी।

"अनुमानतः ईसासे पूर्वके १५०० से ८०० वर्ष तक वल्कि अज्ञात समयसे सर्व ऊपरी, पश्चिमीय, उत्तरीय मध्यभारतमें तूरानियोंका, जो आवश्यकतानुसार द्राविद कहलाते थे और जो वृक्ष, सर्प और लिंगकी पूजा करते थे, शासन था। ………परन्तु उस ही समयमें सर्व ऊपरी भारतमें एक प्राचीन सभ्य, दार्शनिक और विशेषतया नैतिक सदाचार व कठिन तपस्यावाला धर्म अर्थात् जैनधर्म भी विद्यमान था। जिसमेंसे स्पष्टतया ब्राह्मण और बौद्धधर्मके प्रारंभिक संन्यास भावोंकी उत्पत्ति हुई।"

'आर्य्योंके गंगा तथा सरस्वती तक पहुंचनेके भी बहुत समय पूर्व जैनी अपने २२ बौद्धों संतों अथवा तीर्थंकरों द्वारा जो ईसासे पूर्व की ८ वीं ६ वीं शताब्दीके ऐतिहासिक २३ वें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथसे पहिले हुए थे, शिक्षा पा चुके थे और श्रीपार्श्व अपने से पूर्वके सब तीर्थंकरोंसे अर्थात् उन धर्मात्मा ऋषियोंसे जो दीर्घ २ कालान्तर से हुये थे, जानकारी रखते थे और उनको बहुतसे ग्रन्थ जो उससमयमें भी 'पूर्वों' या पुराणों अर्थात् प्राचीन के तौर पर प्रसिद्ध थे और जो युगान्तरोंसे विख्यात व वाणप्रस्थोंके द्वारा कण्ठस्थ

चले आते थे, मालूम थे। यह विशेषतया एक जन सम्प्रदाय था जिसको उनके समस्त बौद्धों और विशेषकर ईसाके पूर्वकी ६ ठी शताब्दीके २४वें और अन्तिम तीर्थंकर महावीरने जो सन् ५१८—५२६ ईसाके पूर्व हुये, हे नियमबद्ध रक्खा था। यह तपस्वियों (साधु)का मत दूरस्थ बैकट्रिया और डेसिया (Baktria and Dacia) के ब्राह्मण और बौद्ध धर्मोंमें जारी रहा जैसे हमारी स्टडी नं० १ और सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट भाग २२ और ४५ (Study I and S. Books E. Vols xxii & xlv) से ज्ञात होता है।"

अजैन लेखकोंकी, जो प्रथमके २२ तीर्थंकरोंको ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते हैं, उपर्युक्त सम्मतियां इस बातको पूर्ण तौरसे निश्चय कर देती हैं कि जैनधर्म कमसे कम २८०० वर्षसे संसारमें प्रचलित है, अर्थात् महात्मा बुद्धसे ३०० वर्ष पूर्वसे। इससे यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म किसी प्रकार बौद्ध धर्मकी शाखा नहीं कहा जा सक्ता।

अब इन एक सिद्ध की हुई बातोंसे यह प्रश्न अवश्य हो-सक्ता है कि 'क्या जैनधर्मका निकासस्थान हिन्दूधर्म है या नहीं?' F. कुछ वर्तमान लेखकगण इस धर्मका, ब्राह्मण धर्मसे उसकी वर्णव्यवस्थाके विरोधमें पुत्रीरूपसे स्थापित होना मानते हैं(देखो दि हार्ट आफ जैनिज्म पृष्ठ x) ।यह सम्मति इस विचारके आधार पर है कि ऋग्वेदको; मानव जातिके प्रारंभिक शैशव काल के भावोंका संग्रह होनेके कारण, उन सब धर्मोंसे, जिनमें बुद्धिम-

त्ताका अधिक अंश है, अधिक प्राचीन होना चाहिये। इसी बात को मानकर यह कहा जाता है कि प्राचीन धर्मके विरोधमें जैन धर्म स्थापित हुआ और इस लिये इसको मूल धर्म (प्राचीन हिन्दू धर्म) की उद्दण्ड पुत्री समझना चाहिये। जिससे उसकी बहुत गहरी सदृशता है।

दुर्भाग्यवश इस संबंधमें कोई बाह्य प्रमाण उपलब्ध नहीं क्योंकि न तो कोई प्राचीन स्मारक ही और न कोई ऐतिहासिक चिन्ह ही मिलते हैं जो इस प्रश्न पर प्रकाश डाल सकें। इस बातका निर्णय केवल स्वयम् दोनों धर्मोंके शास्त्रोंकी आंतरिक साक्षीसे, विना किसी बाह्य सहायताके ही करना है। अतः हम दोनों धर्मोंके सिद्धान्तोंका साथ साथ अध्ययन करेंगे जिससे हम यह जान सकें कि दोनोंमें अधिक प्राचीन कौन है? प्रथम हिन्दू धर्मके ऊपर दृष्टि डालते हुये उसके शास्त्रों में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराण शामिल हैं। इनमें वेद सब से प्राचीन हैं। दूसरा नम्बर प्राचीनतामें ब्राह्मण शास्त्रोंका है। उसके पश्चात् क्रमसे उपनिषदोंका और फिर सबसे अन्तमें पुराणोंका है। सब वेद भी एक ही समयके निर्मित नहीं हैं। ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। इस प्रकार हिन्दू मत उन धर्मोंमेंसे है जो समय समय पर वृद्धि व उन्नतिको प्राप्त होते रहे हैं।

यह बात स्वयं अपनी साक्षी है, और इससे यह परिणाम

---

* जैन पुराण वास्तवमें जैनमतकी असीम प्राचीनताको सिद्ध करते हैं, लेकिन चूंकि वर्तमान इतिहासवेत्ता सिवाय इतिहासिक ग्रन्थोंके और ग्रन्थों पर अविश्वासके साथ दृष्टिपात करता है इस कारण हम इस लेखमें उनका प्रमाण नहीं देते।

निकलता है कि हिन्दु धर्म जैसा आज है वैसा सदैव नहीं रहा और यह स्पष्ट है कि उसमें समय समय पर वृद्धि होती रही है ताकि उसमें पूर्णताका वह दृश्य आजाय जो निस्सन्देह वेदोंमें उनके पूज्य मंत्रोंकी रहस्यमयी मायाके होते हुए भी नहीं पाया जाता है। जब यह विचारते हैं कि वेदोंके समय अथवा वेदोंके पूर्व हिन्दु धर्मके सिद्धान्त (Teachings) क्या रहे होंगे तब यही कठिनाई आकर पड़ती है जिसको उपनिषद्के लेखक भी पूर्णतया तय नहीं कर सके क्योंकि वेदोंमें किसी वैज्ञानिक अथवा व्यवस्थित धर्मका वर्णन नहीं है, सुतरां केवल देवताओंको समर्पित मंत्रोंका संग्रह है जो अब सबके सब विविध प्राकृतिक शक्तियोंके ही रूपक (अलंकार) माने जाते हैं। ब्राह्मण शास्त्र तो स्वयं ही वैज्ञानिक होनेका दावा नहीं करते बल्कि वे यज्ञ विषयक क्रियाकाण्डमें परिपूर्ण हैं। और उपनिषदोंकी बावजूद उनकी दार्शनिक प्रवृत्तिके भी समझनेकेलिए लम्बी व भारी टीकाओंकी आवश्यकता है। और वे ऐसी कथाओं आदिसे भी परिपूर्ण हैं जैसे ब्रह्माके स्वयं अपनी ही कुमारी पुत्री शद्रूपासे बारम्बार बलात्कार संयोग करनेसे सृष्टि उत्पन्न होना (बृहद् आरण्यक उपनिषद् १।४।४।

षट्दर्शनोंमें भी जिनमें धर्मको कायदेसे तरतीब देनेका प्रयत्न है एक दूसरेका खण्डन ही किया गया है। तात्पर्य यह है कि आज भी कोई मनुष्य इस बातको नहीं जानता कि हिन्दु धर्मका असली स्वरूप क्या है यद्यपि ईश्वरशून्य सांख्यमतावलम्बी भी वैसा ही हिन्दू कहलाता है जैसा कि विष्णुका भक्त या शीतलाका उपासक जो चेचककी देवी है! यज्ञसंबन्धी विषयमें, इसमें कोई

संदेह नहीं है कि ऋग्वेदकी वास्तविक पवित्रतामें पशु बलिदानका प्रतिवाद है और अजमेध अश्वमेध गोमेध और नरमेध जैसे संस्कार पीछेसे किसी दुष्टसमयमें शामिल हुये हैं। यह बात वैदिक अलंकारोंके वास्तविकस्वरूपसे साफ मालूम होती है। विशेषतया 'अग्नि'के स्वरूपसे, जो तपका रूपक है क्योंकि तप जो मनुष्य व पशुमेधका पूरा विरोधी है। और वेदोंके ऐसे वाक्य भी जैसे "मतवाला सन्तानरहित हों।" (देखो ऋग्वेद १.२१.५) और वे वाक्य भी जिनमें राक्षसों व मांसभक्षकोंको श्राप दिया गया (देखो विलकिन्स हिन्दू माइथालोजी पृष्ठ २७) इस मतको प्रबल पुष्टि करते हैं। इन यज्ञविषयक वेद विवरणकी प्रतिरूपक भाषान्तर करनेका जो घोर प्रयत्न हिन्दुओंने स्वयं पीछेसे किया है वह यही दर्शाता है कि हिन्दुओंका हृदय पशुवधसे किस कदर घृणा करता था। यह बात अंधकारमें है कि यज्ञ संबन्धी (बलिदान) विषय वेदोंमें कैसे मिलाया गया। हां! केवल यह बात स्पष्ट है कि यह विषय हिन्दू धर्मके यथार्थ भावके विरुद्ध है। और इसलिये किसी बुरे प्रभावके कारण पीछेसे मिला दिया गया है। क्यों कि यह बात बुद्धिगम्य नहीं है कि कोई पवित्र धर्म ऐसे हिंसापूर्ण और कुमार्गकी ओर लेजानेवाले वाक्योंका प्रचार करे।

इस प्रकार हमारा हिन्दू धर्मका दिग्दर्शन पूरा होता है जिससे हमको यह कहनेका अधिकार है कि विचार और भाषा की स्पष्टता (Precision) किसी समयमें भी इस धर्मके

प्रसिद्ध चिन्ह नहीं रहे हैं। भावार्थ -कि यह विचारों की अस्पष्टता और गड़बड़ीसे जो धार्मिक काव्यका मुख्य चिन्ह है, कभी असंयुक्त नहीं रहा और इसकी जड़ एक चिन्हरूपी मन्त्रोंके संग्रह परही मुख्यतया निर्भर है, जो व्यक्तिगत मानी हुई शक्तियों गुणों आदिको अर्पित है—अतः उन काल्पनिक देवताओंका फल जो भूतकालके ऋषि कवियोंको मानसिक उलझनोंमें मगन रहने वाली कल्पना शक्तिसे उत्पन्न हुये हैं।

जब हम जैन धर्मकी ओर देखते हैं तो हमको इससे एक बिलकुल विलक्षण बात दिखाई पड़ती है। जैन धर्म एक केवल वैज्ञानिक धर्म है और आत्मा अथवा जीवनके सिद्धान्तको पूर्णतया समझने पर असरार करता है। इसमें समयानुकूल परिवर्तन न होनेसे यह हमको अपने प्राचीन रूपमें मिलता है। यद्यपि गत १८०० सौ वर्षोंमें इसको सामाजिक व्यवस्थामें कुछ मतभेद अवश्य होगया है; परन्तु इसके सिद्धान्तोंमें न तो कोई आवश्यक बात मिलाई गई है और न कोई बात घटाई ही गई है। जैनधर्मकी अपूर्व पूर्णताको समझनेके लिये यह आवश्यक है कि इसके सिद्धान्तोंका वर्णन संक्षेपसे किया जाय।

जैन धर्म बताता है कि आत्माका मुख्य उद्देश्य परम [illegible] अर्थात् परमात्मापनकी अवस्थाका प्राप्त [illegible] प्रत्येक अवस्थामें इस उद्देशसे अभि[illegible] आत्[illegible] जैन धर्म यह और भी बतलाता है [illegible] शक्तिसे इस परमपदको पा सक्ता है.

हीं दयासे नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि सिद्धात्मा(परमात्मा) का सर्वोच्च पद आत्माका ही निज सत्यस्वरूप है। जिसको वह अशुद्ध अथवा अपूर्ण अवस्थामें विविध कर्मोंके बंधनोंके कारण प्रकट नहीं कर सक्ता है। यह कर्म विविध प्रकारकी शक्तियां हैं जिनकी उत्पत्ति आत्मा और माद्द (पुद्गल) के मेलमे होती है और जो केवल स्वयम् आत्माकी ही शक्तियों-से नाश भी की जा सक्ती हैं। जब तक आत्मा अपने सत्य स्वभावसे अनभिज्ञ रहता है तब तक वह अपना स्वाभाविक स्वरूप और सुखको प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं कर सक्ता है। अतः आत्माके स्वभाव और अन्य पदार्थोंका और उन शक्ति—योंका ज्ञान जो आत्माके स्वाभाविक गुणोंको घात करती हैं कर्मोंके बंधनसे छुटकारा पानेके लिये नितांत आवश्यक है।

यह यथार्थ अथवा सत्य ज्ञान है जो सात नियमों या तत्वों के सत्य श्रद्धानसे उत्पन्न होता है। जिसकी, आत्मा को उसके सुख—स्थान अथवा मुक्तिधाममें पहुंचानेकी, आवश्यकता है। और इस सम्यक् ज्ञानके साथ साथ सम्यक्चारित्र अर्थात् ठीक मार्गपर चलनेकी भी नितांत आवश्यकता है। जिससे कर्म बंधनोंका नाश होकर संसारके आवागमन अथवा जन्म मरण के दुःखसे निवृत्ति मिले।

इस प्रकार सामान्य रीतिसे जैन धर्मकी यह उपर्युक्त शिक्षा है। और यह प्रत्यक्ष है कि यह सर्व शिक्षा जड़ी रूपमें है जो 'कारण कार्य' के सिद्धान्त पर निर्भर है। अथवा यह एक पूर्ण

वैज्ञानिक दर्शन है और इस शृंखलाकी सबसे बड़ी बात यह है कि इसमेंसे एक कड़ीका निकलना भी बिना कुलकी कुल लड़ी के तोड़नेके असम्भव है अतः यह सिद्ध होता है कि जैन धर्म कोई ऐसा धर्म नहीं है जिसको समयके अनुसार सुधारों अथवा उन्नति आदिकी आवश्यक्ता हो। क्योंकि जो प्रारम्भसे ही अपूर्ण होता है केवल वह ही अनुभव द्वारा उन्नति पा सक्ता है।

वैदिक समयके हिन्दूधर्मको देखनेसे हम जैन धर्मके सदृश क्रमबद्ध पूर्णता न तो ऋग्वेदमें ही और न अवशेष तीनों वेदों में ही पाते हैं। जिनके रचयिता केवल अग्नि, इन्द्र, सदृश कथानक देवताओंकी प्रशंसा करके सन्तुष्ट हो गये हैं। सुतरां पुनर्जन्मका सिद्धान्त ही जो सत्य धर्मका मुख्य अङ्ग है वेदोंके कथानकोंमें कठिनतासे मिलता है और जैसा कि योरुपीय विद्वानोंका कहना है वेदोंमें केवल एक स्थानपर ही उसका उल्लेख आया है, जहां 'आत्माका जल वनस्पतिमें स्थानांतर होने'का वर्णन है।

इस प्रकार हम सिवाय इसके अपनी और कोई सम्मति स्थिर नहीं कर सक्ते हैं कि प्रारम्भिक हिन्दूधर्मका अर्थ यदि उसके बाह्य (स्थूल) भावमें लगाया जावे तो वह जैन धर्मसे उसी प्रकार भिन्नता रखता है जिस प्रकार कि दो असदृश और भिन्न वस्तुएं रखती हैं और वेदोंको जैन धर्मका निकास-स्थान कहना असम्भव हो जाता है। यथार्थमें वास्तविकता

इसके बिलकुल विरुद्ध है क्योंकि यदि हम इस ख्यालको दिलसे निकाल दें कि वेद ईश्वरकृत हैं और किसी प्रकार उनके अलंकृत मंत्रोंमें छिपे हुये सिद्धान्तोंको समझ सकें तो हम हिन्दू धर्मकी गुप्त रहस्यमयी शिक्षाको आसानीसे एक बाहरी निकास से निकलते हुये देख सके हैं यह बात पहिले ही सिद्ध हो चुकी है कि न तो निर्वाणका महान उद्देश और न आवागवनका सिद्धान्त जिसमें कर्मका नियम भी शामिल है प्रारम्भिक हिंदू शास्त्रों में उनको स्थूल दृष्टिसे पढ़ने पर पाये जाते हैं। और यदि यह नियम वेदोंके कथानकोंमेंसे निकाले भी जा सकें तो भी उनका वर्णन वेदोंमें उस वैज्ञानिक ढंग पर नहीं मिलता है जैसा कि जैनशास्त्रोंमें। इस लिहाजसे प्रारम्भका हिन्दू मत बौद्ध मतसे सदृशता रखता है जो आवागमनके सिद्धान्त और कर्मके फ़िलसफेके उसूलको तो मानता है परन्तु बंध और पुनर्जन्मका वर्णन उस वैज्ञानिक तरह पर नहीं करता है जिस प्रकार कि जैनमतमें किया गया है। इन बातोंसे जो अर्थ निकलता है वह प्रत्यक्ष है और स्पष्टतया उसका भाव यह ठहरता है कि कर्म, आवागमन और मोक्षके सिद्धान्त हिन्दुओं या बौद्ध दार्शनिकोंने नहीं दर्यापत किये थे और न वह उनको किसी सर्वज्ञ यानी सर्वज्ञानी गुरु या ईश्वरके द्वारा प्राप्त हुये थे।

इस युक्ति (विषय)की श्रेष्ठताको समझनेके लिये यह याद रखना आवश्यक है कि कर्म सिद्धान्त रुहानी फ़िलसफे (अध्यात्मिकज्ञान) का एक बहुत ठीक और वैज्ञानिक प्रकाश है और

यह कि यह जीव और पुद्गल [माद्दे] के संयोगके नियमों और कारणों पर निर्भर हैं जिनमेंसे एकका अभाव भी उसकी सत्ताको बिल्कुल नष्ट कर देनेके लिये काफी है क्योंकि यह असम्भव है कि किसी निषेधरूपी सत्ताको किसी प्रकार बांधा जा सके और यह भी असम्भव है कि किसी अनित्य पदार्थको कल्पित, सत्ता न रखनेवाली जंजीरोंसे बांध सकें। बौद्ध मत आत्माकी सत्ता (नित्यता) का विरोधी है और कर्मोंके बन्धनका किसी द्रव्यके आधार पर होना नहीं मानता है जब कि प्रारम्भिक हिन्दू धर्म आत्मिक पूर्णताके विधानके विषयमें कुछ नहीं बताता है। यह वाक्य स्वतः अपने भावोंको प्रगट करते हैं और इस विचारका विरोध करते हैं कि जैनियों ने अपने विस्तृत सिद्धान्तको इनमेंसे किसीसे लिया हो। यह भी संभव नहीं है कि हम ऐसा कहें कि जैनियोंने हिन्दुओंके या किसी और मतके सिद्धान्तोंके आधार पर अपनी प्रणाली स्थापित की। इस किस्मके विचारोंका पूर्णतया खण्डन इन्साइक्लोपेडिया आफ रिलीजन ऐन्ड एथिक्स भाग ७ सात पृष्ठ ४७२ से उद्धृत निम्न लिखित वाक्योंसे होता है—

“अब एक प्रश्नका उत्तर देना आवश्यकीय है जो ध्यान पूर्वक पठन करनेवाले प्रत्येकके मनमें पैदा होगा यानी कर्म फलास्फीका सिद्धान्त जैसा कि ऊपर उसका वर्णन किया गया है जैनमतका प्रारम्भिक और मुख्य अंश है या नहीं ? यह प्रत्यक्षमें इतना गूढ़ और बनावटी जान पड़ता है

कि दिल इस बातके मानने पर तत्पर हो जाता है कि यह एक ऐसा फलसफा है जिसको किसी ऐसे प्रारम्भिक मतके ऊपर, जिसमें सब पदार्थोंमें जान मानी गई हो और जो सब प्रकारके जीवोंकी रक्षा करनेपर तुला हुआ हो, पीछेसे गढ़ कर लगा दिया गया हो। परन्तु ऐसा विचार इस बातसे विरुद्धतामें पड़ेगा कि यह कर्म सिद्धान्त अगर पूर्णतया विस्तारपूर्वक नहीं, तो भी विशेषतया अपने मुख्य स्वरूपमें पुरानेसे पुराने शास्त्रोंमें उपलब्ध है और उनमें जो भाव दिखलाये गये हैं उनके उद्देश्य में पहिले ही से सम्मिलित हैं। और न हम यह अनुमान कर सकते हैं कि कर्म सिद्धान्तके विषयमें शास्त्र प्रारम्भिक कालके पश्चात्‌की दार्शनिक उन्नति को प्रगट करते हैं। इस कारणसे कि आस्रव, संवर और निर्जरा आदिके यथार्थ भाव इसी मानीमें समझे जा सकते हैं कि कर्म एक प्रकारका सूक्ष्म माद्दा है जो आत्मामें आता है (आस्रव) उसका आना रोका जा सक्ता है अर्थात् उसके आनेके द्वारे बंद किये जा सके हैं (संवर) और जो कर्मोंका माद्दा आत्मामें सम्मिलित है वह उससे अलग किया जा सक्ता है (निर्जरा) जैन लोग इन परिभाषाओंका अर्थ शब्दार्थमें लगाते हैं और इनका प्रयोग मोक्षसिद्धान्तके समझानेमें करते हैं (आस्रवोंका संवर और निर्जरा मोक्षके कारण हैं।) अब यह परिभाषायें इतनी ही पुरानी हैं जितना

कि जैन मत, क्योंकि बौद्धमत वालोंने जैन मतसे निहायत सार्थक शब्द आस्रवको ले लिया है वह उसका प्रयोग करीब उसी मानोंमें करते हैं जैसा कि जैनी लोग। परन्तु उसके शब्दार्थमें नहीं, क्योंकि वह कर्म को सूक्ष्म माद्दा नहीं मानते हैं और आत्मा की सत्ताको नहीं मानते जिसमें कर्मोंका आस्रव हो सके। संवरके स्थान पर वे असवक्खय (आस्रवक्षय) अर्थात् आस्रवका नाश, का व्यवहार करते हैं जिसको वह मग (मार्ग) बताते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि उनके यहां आस्रवके शब्दार्थका लोप हो गया है और इस लिये उन्होंने इस परिभाषाको किसी ऐसे मतसे लिया होगा कि जिसमें उसके शब्दार्थ कायम थे। अर्थात् अन्य शब्दोंमें, जैनियोंसे। बौद्ध संवर शब्दका भी प्रयोग करते हैं जैसे शीज—संवर (सदाचारके बमोजिब अपने मन वचन कायको काबूमें रखना) और क्रिया रूपमें संवुत अर्थात् 'वशमें रखना' का प्रयोग करते हैं जो ऐसे शब्द हैं जिनको ब्राह्मण लेखकों ने इस अर्थमें इस्तेमाल नहीं किया है, और इस कारण अनुमानतः जैन मतसे लिये गये हैं जहां यह अपने शब्दार्थमें पूर्णतया अपने भाव को प्रगट करते हैं। इस प्रकार एक ही युक्ति इस बातके पुष्ट करनेके लिये उपयोगी है कि जैनियोंका कर्म सिद्धान्त उनके मतका आवश्यकीय और असपष्ट अंश है। और साथहीमें इस बातके साबित करनेके लिये भी कि जैन मत, बौद्ध मतके प्रारम्भसे बहुत ज्यादा प्राचीन है।

जब हम हिन्दु मतकी ओर इस बातके जांचनेके लिये दृष्टि पात करते हैं कि आया कर्म सिद्धान्त हिन्दु ऋषियोंकी खोज का नतीजा है तो हमको उसका एक अनिश्चित और अपूर्ण भाव हिन्दू धर्मके प्रारंभिक शास्त्रमें मिलता है। परिणाम यहां भी यही निकलता है अर्थात् यह कर्मसिद्धान्त हिन्दुओंने किसी अन्य धर्मसे लिया है, क्योंकि यदि यह हिन्दू ऋषियोंकी मेहनत का फल होता तो वह अपने रचयिताओंके हाथोंमें भी अपने उसी वैज्ञानिक ढंग पर होता जैसा कि वह निःसन्देह जैन मतमें पाया जाता है। कर्म, बन्धन, मुक्ति और निर्वाणके स्वरूप क्या हैं, यह एक ऐसा विषय है जिसकी निस्वत हिन्दुओंके विचार बहुत ही विरुद्ध और अवैज्ञानिक पाये जाते हैं। वास्तवमें आश्रव, संवर, निर्जरा ऐसे शब्दोंमें से हैं जिनसे ब्राह्मणोंका मत करीब करीब बिलकुल ही अनभिज्ञ है बावजूद उपनिषदोंके लेखकोंकी बुद्धमत्ताके जिन्होंने अपने पूर्वजोंके धर्मको दार्शनिक विचारोंकी पुष्ट नीव पर आधारित करनेकी कोशिश की। पस ! जो परिणाम निकालनेके अब हम अधिकारी हैं वह यह है कि हिन्दू मतने स्वयं इस विषयको किसी अन्य निकाससे प्राप्त किया है जिसको अब बाज लोग उसीकी कृति मानते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि हिंदुओंने कर्मके सिद्धांतको कहांसे प्राप्त किया? बौद्धोंसे तो नहीं, क्योंकि बौद्धमत पीछेको कायम हुआ। तब सिवाय जैनमतके और अन्य किसी मजहबसे नहीं, जो आवागमनके माननेवाले धर्मोंमें और सबसे प्राचीन धर्म है और

जो इस मसलेको वैज्ञानिक ढंग पर लिखानेवाला अकेला ही धर्म है।

यह युक्तियां इस असत्य ख्यालको दूर करदेती हैं कि जैन मत हिंदू मतकी पुत्री है, परंतु चूंकि वेदोंकी उत्पत्तिके विचार से बहुत प्रकाश इस व्याख्या पर पड़ सकता है इसलिये अब हम विधि अनुकूल वेदोंके निकासकी खोज लगावेंगे।

वर्तमान खोजने वेदोंको उस कालके मानिमय भावोंका संग्रह माना है जब कि मनुष्य बच्चेपनकी दशामें पौद्गलिक चमत्कारोंसे भयभीत रहता था और सब प्रकारकी प्राकृतिक शक्तियों को देवी देवता मानकर उनके प्रसन्न करनेके लिये दंडवत् करता था परन्तु उस समयकी हिन्दू सभ्यतासे, जो स्वयं वेदोंकी आन्तरिक साक्षीसे स्पष्ट है यह ख्याल झूठा ठहरता है। क्योंकि पवित्र मन्त्रोंके रचयिता किसी माने में भी प्रारंभिक अपक्व बुद्धि वाले मनुष्य या जङ्गली न थे और उनके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता है कि वह अग्नि और अन्य प्राकृतिक शक्तियोंके समक्ष आश्चर्यवान् और भयभीत होकर दंडवत् करते थे। एक योरुपियन लेखकके अनुसार—

"आर्योंका देश अनेक विभिन्न जातियोंका निवासस्थान था और बहुतसे प्रांतोंमें बंटा था। वेदोंमें बहुतसे राजाओं के नाम लिखे हैं......... पुरपति, शहरोंके हाकिमों, चकलेदारों, जमींदारोंका जिक्र है। ....सुवस्त्रधारी स्त्रियों और अच्छे बने हुये घरोंका वर्णन है।...इन ख्यालोंसे

और औरोंसे जिनमें मणि माणिकका जिक्र है यह नतीजा निकाला जा सक्ता है कि उस समयमें भी शारीरिक आभूषणोंकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। वस्त्र अनुमानतः रुई और ऊनके बनाए जाते थे, और वे करीब २ इसी प्रकारके थे जैसे वर्तमान कालमें हैं। पगड़ीका उल्लेख है। सुई और तागेका वर्णन इस बातका सूचक है कि सिले हुए कपड़े नामालूम न थे।.........लोहेसे सुरक्षित शहरों और दुर्गोंका वर्णन है...... पीने वाले मादक पदार्थोंका भी मंत्रोंमें वर्णन है। करीब २ ऋग्वेदका एक कुल मंडल सोमरसकी प्रशंसासे भरा हुआ है। मदिरा या सुराका भी व्योहार था।

आर्य्योंके मुख्य उद्यम संग्राम और कृषि थे। जो युद्ध करने में सूर ठहरे उन्होंने धीरे २ प्रतिष्ठा और उच्च पदको प्राप्त किया, और उनके मुखिया राजा हो गये। जिन्होंने रणमें भाग नहीं लिया वह विश या वैश्य या गृहस्थ कहलाये।"

वैदिक समयके हिंदू समाजका वर्णन करते हुये डाक्टर विल्सन साहब लिखते हैं:—

"यह बात कि आर्य्य लोग केवल एक जंगलोंमें फिरनेवाली जाति न थी बहुत स्पष्ट है। उनके शत्रुओंके भांति उनके गांव, शहर, और पशुशालायें थीं, और उनके पास बहुत तरहके यन्त्र उपयोगी सामिग्री, व सुखके साधन, दुराचारके उपकरण जो मनुष्य जातिकी एकत्रित मण्डलियोंमें

पाये जाते हैं, थे। वे बुनने व कातनेकी विधि भी जानते थे, जिस पर वे मुख्यतया निर्भर थे। वे लोहेके व्योहारसे भी अनभिज्ञ न थे और न लोहार, ठठेरे, बढ़ई व अन्य शिल्पकारोंके कार्योंसे। वे कुल्हाड़ियोंसे जङ्गलोंके वृक्ष काटते थे और अपनी गाड़ियोंको साफ व चिकना करनेके लिये रन्दे काममें लाते थे। युद्धके लिये जिसके वास्ते कभी २ वे शंखध्वनि पर एकत्रित होते थे, वे बख्तर, गदा, कमान, तीर, बर्छी तलवार या तबर और चक्र बनाते थे। उन्होंने अपने घरेलू व्यवहार और देवोंकी पूजाके लिये कटोरे, कलसे, छोटे बड़े चम्चे बनाये थे। नाईका उद्यम करनेवालोंसे वे बाल कटवाते थे वे बहुमूल्य पाषाणों व जवाहिरातोंका उपयोग करते थे, क्योंकि उनके पास सोनेकी थालियां, सोनेके कटोरे और जवाहिरातकी मालायें थीं। उनके पास युद्धके लिये रथ थे और साधारण व्योहारके लिये घोड़ों तथा बैलोंकी गाड़ियां थीं। उनके पास अच्छे घोड़े थे और उनके वास्ते साईस भी थे। उनको समाजमें खोजे (हिजड़े) भी थे। ………भांति २ की नावें बेड़े व जहाज भी यह लोग बनाते थे। वे अपने निवासस्थानोंसे कुछ दूर देशोंमें व्यापार भी किया करते थे। कहीं २ इन मन्त्रोंमें समुद्रका भी उल्लेख है जिस तक वे अनुमानतः सिन्ध नदीके किनारे किनारे पहुंचे होंगे। उनमेंसे मनुष्योंको मवइलियोंका अर्थलाभके लिये जहाजों पर एकत्रित होकर आना लिखा है

"एक सामुद्रिक सेनाकी चढ़ाईके बारेमें उल्लेख है कि वह बेड़े के डूब जानेके कारण निष्फल हुई।"

आर्यलोग अपने मनोविनोदके लिये नाचना, गाना तथा नाट्य करना जानते थे। वेदोंमें मृदंगका भी उल्लेख है और अथर्व वेदमें एक मंत्र विशेषतया मृदंगके लिये निर्मित है।

ऐसा वर्णन उन आर्योंका है जो वेदोंके निर्माण समयमें हुये हैं। हम उन्हें असभ्य तभी कह सक्ते हैं जब हम उनके गुणों की ओरसे, जिनकी कि एक यथेष्ट सूची उपर्युक्त दोनों लेखोंमें दी गई है, आंख मीच लें। तो फिर उस बच्चेपनकीसी उपासनाका जो अग्नि इन्द्र आदि देवताओंकी की जाती थी, जिनके लिये ऋग्वेदके मन्त्र नियमित हैं, क्या अभिप्राय है? यह बात अक्ल के विपरीत है कि ऐसे बड़े बुद्धिमान आदमियोंको, जैसे कि वेदोंकी आन्तरगिक साक्षियोंसे हिन्दू साबित हुये हैं, यह मान लें कि यह अग्निके बारेमें इतने कम जोर थे कि आगको देखकर आश्चर्य वान और भयभीत हो जाते थे और यह कि उन्होंने एक ऐसी प्राकृतिक शक्तिके प्रसन्नार्थ, जिसको वह स्वयं बड़ी ही आसानी से पैदा कर सक्ते थे, बहुतसे भजन बना डाले। बात यह है कि वेदोंके देवता प्राकृतिक शक्तियोंके रूपक नहीं हैं बल्कि जीवकी आत्मिक शक्तियोंके। चूंकि आत्माके स्वाभाविक गुणोंका भजना आत्माको कर्मोंकी निद्रासे जगानेका एक मुख्य कारण है। इसलिये ऋग्वेदके ऋषि कवियोंने बहुतसे मन्त्रोंको, आत्मिक शक्तियोंके लिये नियत [illegible] ताकि यह आत्मिक गुण

ऐसे ढंगमें जो उनके अर्थको, समझ कर, जान कर, प्रगट हो जायें। उन्होंने जीवकी बहुतसी क्रियाओं-जैसे श्वासोच्छ्वासको भी अलं-कृत कर डाला जैसा हम आगे दिखावेंगे। मगर इस सबमें यह बात गर्भित है कि ऋषियोंको आत्मिक क्रियाका प्रगाढ़ बोध था और यह सब वैदिक समयके आर्योंकी उस सभ्यताके अनुकूल है।

परन्तु जब कि ऋग्वेदके मन्त्रोंके बनानेवालोंमें आत्मिक ज्ञानके बोधका होना जरूरी मानना पड़ता है तो इस आत्मिकज्ञानका अस्तित्व स्पष्ट वैज्ञानिक ढंग पर होना भी लाजमी मानना पड़ता है। लेकिन इस सत्य ज्ञानको हम अगर जैनमतमें नहीं तो और कहां ढूंढ़ें, जो हिन्दुस्थानके और सब मतों में सबसे प्राचीन है। इससे यह नतीजा निकलता है कि जैन-दर्शन वास्तवमें ऋग्वेद के पवित्र मंत्रोंकी, जिनके रचनेवालोंने जीवकी विविध क्रियाओं और स्वाभाविक आत्मिक गुणोंको कल्पित व्यक्तियों (देवी देवताओंके) रूपमें बांधा, नींव है।

शायद यह ख्याल हो सकता है कि सांख्य दर्शन, न कि किसी दूसरे मतका कोई और शास्त्र ऋग्वेदकी नींव है क्योंकि वेदोंके काल्पनिक व्यक्तिगण एक ऐसे विचारके आधार पर हैं जो यद्यपि यथार्थमें सांख्य नहीं है तो भी यह सांख्यमतसे इतना मिलता है कि यह सांख्यमतसे बहुत कम विरुद्ध होगा। मगर सत्य यह है कि वर्तमानका सांख्य दर्शन वेदोंके बहुत पश्चात् कालका है यह वेदोंके प्रमाणको मानता है और समयके लिहाजसे वेदोंके पहलेका नहीं हो सकता।

इसलिये यह विदित होता है कि सांख्य दर्शनसे मिलता हुआ कोई और मत रहा होगा जो गुप्त शिक्षाकी अस्पष्टता (Indefiniteness) और अनिश्चितपनसे भरा होगा। यह बात कि इस प्रकारका एक मत था जैन पुराणोंमें पाई जाती है जिनके कथनानुसार अनभिज्ञ लोग जैनधर्मके प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव भगवानके समयहीमें नाना प्रकारकी धर्म शिक्षा संसारमें फैलाने लगे थे और स्वयम् पूज्य तीर्थंकरका पोता मरीचि नामी जिसने परिषहजयमें असफलता प्राप्त होनेके कारण अपने आप को योग क्रियामें ऋद्धियों सिद्धियोंके हेतु संलग्न किया था एक ऐसे धर्मका संस्थापक हो गया जो सांख्य और योग दर्शनोंके मध्य दर्जेका था। इस प्रकार यह जान पड़ता है कि * मरीचिका स्थापित धर्म जो पूज्य तीर्थंकरोंके मतसे प्राप्त किये सत्यके अंशके आधार पर गुप्त रहस्यवादके ढंग का निर्माण किया गया था, वेदोंकी अलंकृत देवमाला और पश्चातके पुराणोंकी असली व प्रारम्भिक बुनियाद है।

इस कथनकी प्रबलता कि वेदोंकी कल्पित देवमाला जैन मतसे प्राप्त हुए सत्यके अंश पर निर्धारित है, प्रत्येक व्यक्तिको विदित हो जायगी, जो आवागमनके नियम और उसके आधारभूत कर्मसिद्धान्तके निकास पर विचार करेगा। यह बात कि यह नियम, वेदोंके रचयिता या रचयिताओंका

* मरीचि ऋषिका नाम वैदिक मंत्रोंके बनानेवाले ऋषि कवियोंमें ऋग्वेदमें बाकई दिया हुआ है।

मालूम था, ऋग्वेदके उस वाक्यमें विदित है, जिसमें जीवके जल व वनस्पतिमें प्रवेश कर जानेका वर्णन है (देखो डॉ० प०, मैक्सम्जो साहबका इन्डियन मिथ ऐन्ड लीजन्ड पृष्ठ १६६।। और वैदिक गुप्त रहस्यमयी शिक्षाके आधारभूत सिद्धान्त के सामान्य स्वरूपसे भी विदित है।

अगर हम यास्कके साथ, जो वेदोंके टीकाकारोंमें बहुत प्रसिद्ध गुजरा है यद्यपि वह सबसे पहिला टीकाकार न था, सहमत होकर यह मानलें कि वेदोंमें तीन बड़े देवता हैं, यानी अग्नि, जिसका स्थान पृथ्वी है, वायु, या इन्द्र जिसका मुकाम वायु है, और सूर्य, जिसका स्थान आकाश है, तो यह बात सहजहीमें समझमें आजायगी कि यह देवता अपने विभिन्न कर्तव्योंके कारण भिन्न भिन्न नामोंसे प्रसिद्ध हैं (देखो डब्लू० जे० विलकिन्स साहबकी हिन्दू मेथोलोजी पृष्ठ ६) हमने इन्द्रका असली स्वरूप 'दि की औफ नौलेज'में बताया है और पश्चातमें उसका यहां भी वर्णन करेंगे, लेकिन सूर्य केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता का चिह्न है और अग्निसे मतलब तपाग्निसे है। इस प्रकार वैदिक ऋषियोंके तीन मुख्य देवता आत्माकी तीन दशाओंके चिन्ह हैं, सूर्य उसकी स्वाभाविक दिव्य छविका प्रकाशक है, इन्द्र उसको पुद्गल द्रव्यके स्वामी और भोगताके रूपमें दर्शाता है और अग्नि जो तपसे उत्पन्न होती है उसके पापोंके भस्म करने वाले गुणोंकी सूचक है। अग्निके तीन पाँव तपके तीन आधारों, अर्थात् मन, वचन और कायको जाहिर करते हैं और

उसके सात ७ हाथ सात प्रकारकी ऋद्धियोंके सूचक हैं। जो शरीरके सात मुख्य चक्रोंमें सुपुप्ति अवस्थामें पड़ी हैं! मेंढ़ा जो इस देवताका मरगूब (प्रिय) वाहन है, वाह्य आत्माका चिह्न है (देखो दि की ऑफ नालेज, अध्याय आठ ८) जिसका वलिदान अरजी व्यक्तिकी उन्नतिके लिये करना होता है। लकड़ीके तख्ते जिनसे अग्नि पैदा होती है वह पौद्गलिक शरीर और द्रव्य मन हैं जो दोनों मोक्षके पहिले भस्म (आत्मासे पृथक्) हो जाते हैं। चूंकि आत्माके शुद्ध परमात्मिक गुण तपस्या करनेसे अर्थात् तपके द्वारा प्रगट होते हैं, इसलिये अग्नि को देवताओंका पुरोहित कहा गया है जिसके निमन्त्रण पर वह आते हैं। अन्ततः तपाग्नि आत्माको पूर्वजोंके स्थान (निर्वाण क्षेत्र) पर पहुंचाता है जहां वह सदैवके लिये शान्ति, ज्ञान और आनन्दको भोगता है।

देवताओंके युवक पुरोहित अग्निका ऐसा स्वरूप है। वह कोई पुरुष नहीं है वल्कि एक काल्पनिक व्यक्ति है और काल्पनिक व्यक्ति भी आगका सूचक नहीं है जैसा कि वेदोंके योरोपियन अनुवाद करनेवालोंने ख्याल किया है बल्कि आत्माके कर्मोंके भस्म करनेवाली अग्निका जो तपश्चरणमें प्रगट होती है। एक यही रूपक इस वातके जाहिर करनेके लिये यथेष्ट है कि जिस बुद्धिने उसको जन्म दिया वह आवागमन और कर्मके सिद्धांत से जरूर जानकारी रखती थी, और यह वात कि इस मसलेको (अलंकारकी भाषामें) छिपाकर बयान किया है इसको सूचक

चूंकि श्री ऋषभदेवजी वामन अवतारसे भी पूर्वमें* हुए हैं। इस लिये वह ऋग्वेदके मन्त्रसे बहुत पहिले समयमें गुजरे होंगे। इस प्रकार यह बात संशयरहित है कि वेदोंकी रचना वर्तमान कालमें जैन मतके स्थापन होनेके बहुत कालके पश्चात् हुई।

हिन्दू लोग स्वभावतः वेदोंको ईश्वरकी कृति मानते हैं परन्तु उसके मन्त्रोंसे यह बात अप्रमाणित पाई जाती है, यथार्थ भावमें सत्यज्ञानका प्रकाश दोही तरहसे होता है (अ) या तो आत्मा स्वयम् ज्ञान द्वारा सत्यको जान लेता है या (ब) सर्वज्ञ गुरु (तीर्थंकर) निर्वाण प्राप्तिके पहिले सत्य ज्ञानका दूसरों को उपदेश देते हैं। वेद इस दूसरी संज्ञामें आते हैं क्यों कि उनको श्रुति, जिसका अर्थ 'सुना गया है' है, कहते हैं। इस लिये यह आवश्यकीय हुआ कि हम असली श्रुति या शास्त्रके

---

* यह बात कि वेदोंका भाव गुप्त है इस प्रमाणकी सत्यतामें बाधा नहीं डालती है क्योंकि रामायण और महाभारतकी भांति और पुराणोंकी भांति वेदोंके रहस्यमयी काल्पनिक व्यक्तियों अलंकारों और कथानकोंके बनानेमें, इतिहासके मशहूर व मारुफ, वाकयात और घटनाओंका प्रयोग किया गया है। जैनपुराणोंसे यह साबित है कि श्रीऋषभदेव भगवान और विष्णु ऋषि, जो वामन अवतारके नामसे प्रसिद्ध हुये, इस कारणसे कि उन्होंने एक दफा तपस्यासे प्राप्त हुई वैक्रियिक ऋद्धि द्वारा अपने शरीरको बौनेके कदका बनाकर और फिर पश्चातको अविश्वसनीय विस्तार दिखाकर कुछ साधुओंका कष्ट दूर किया था, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति थे।

छिपानेकी कोई आवश्यकता नहीं है और इस वजहसे उनमें यह इच्छा नहीं मानी जा सकी है कि वह ऐसी भाषाका प्रयोग करें जिसके अर्थमें भूल पड़े, अर्थात् जो भटकानेवाली हो। देववाणी बड़े पुजारियों या पुरोहितों या रहस्यमय कवियों या सन्तों द्वारा नहीं हो सकी है। इस विषयमें विविध मतोंके शास्त्रोंका पढ़ना यथेष्ट रीतिसे हमको इस बातके माननेपर बाध्य कर देगा कि वह वाक्य या हुक्म या आज्ञा जो ईश्वरीय कही जाती है कभी २ उसी शास्त्रके किसी दूसरे वाक्यसे खंडित हो जाती है और बहुधा किसी दूसरे मतकी आज्ञासे। वह दरअस्ल ईश्वरीय प्रेरणा नहीं हैं बल्कि किसी विचार में उन्मादके दर्जे तक मुग्ध हो जाना है और इसका भेद यह है कि पुरोहित या भविष्यवाणी कहनेवाला व्यक्ति अपने आपको रोजा, बलिदान, भक्ति आदिके कालान्तरिक अभ्यासमें एक प्रकारकी अनियमित समाधि अवस्थामें प्रवेश करनेकी आदत डाल लेता है जिसमें उसके आत्माकी कुछ शक्तियां थोड़ी या बहुत प्रगट हो जाती हैं। लोग इनको ईश्वरीय प्रकाशका चिन्ह समझ लेते हैं और सब प्रकारकी वाहियात और कपोलकल्पित सम्मतियां उनके आधार पर गढ़ डालते हैं। मगर यथार्थ यह है कि विवेक करनेवाली बुद्धिके कार्यहीन हो जाने के कारण मनमें उपस्थित विचारोंमेंसे जो सबसे अधिक प्रबल (मग़लूब) होता है उसका भविष्यत् वक्ताके चित्तके क्षेत्र पर शासन हो जाता है जिससे उसकी वाणी उसके व्यक्तिगत विचारों

और पक्षपातसे रुक जाती है, तथापि वह यही मानता है कि उसकी क्रिया (वाक्य) ईश्वरीय प्रवेशका नतीजा है। एक पोलिनेशियाके भविष्यद्वक्ताके ईश्वरीय प्रवेशका निम्नलिखित वर्णन, पढ़ने पर लाभदायक ठहरेगा। (देखो टी० एच० हक्सली साहबकी बनाई हुई साइन्स एन्ड हीब्रुट्रेडीशन, पृष्ठ ३२४):—

"........ एक सुअर मारा गया और पकाकर रातको रक्खा गया और दूसरे दिन केलों और याम (जिमीकन्दके सदृश फल) और टंगन जातिकी निजी सुरा 'कावा' की सामग्रीके साथ (जो उनको बहुत प्रिय है) पादरी (स्याने) के पास लाया गया। फिर सब लोग घेरा बाँध कर जैसे मामूली कावा पीनेके लिये बैठा करते थे, बैठ गये, परन्तु पादरी, ईश्वरका प्रतिरूपक होनेके कारण, सबसे उच्च स्थान पर बैठा जब कि टांगियोंका सर्दार नम्रतापूर्वक ईश्वरके प्रसन्नार्थ घेरेके बाहर बैठा इन सबके बैठते ही पादरीकी प्रेरित अवस्था मानी जाती है क्योंकि उस ही क्षणसे ईश्वरका प्रवेश उसमें माना गया है वह बहुत देरतक चुपचाप हाथोंको अपने सामने पकड़े हुये बैठा रहता है, उसकी आँखें नीचेकी ओर होती हैं और वह बिलकुल शान्त, निराडंबर होता है उस समय जब कि भोजन बटता है और कावा तैयार होता है कभी २ मेतापूल लोग उससे पूछताछ आरम्भ करते हैं। बाज दफा वह उत्तर देता है और बाज दफा नहीं मगर दोनोंही दशा-ओंमें उसकी आँखें बन्द रहती हैं। बहुधा वह खाने और

शरावके बन्द होने तक एक शब्द भी मुंहसे नहीं निकालता है। जब वह बोलता है तो वह साधारण रीतिसे धीमी और बहुत बदली हुई आवाजमें बोलना आरम्भ करता है जो धीरे धीरे बसजी स्वाभाविक पिच (आवाज) तक पहुंच जाती है और कभी कभी उससे उच्च स्वर भी हो जाता है। जो कुछ वह कहता है वह सब ईश्वरीय कथन समझा जाता है और इसी लिये वह उत्तम पुरुष सर्वनाम में बोलता है, मानो वह स्वयं ईश्वर है। यह सब साधारण रीतिसे बिना किसी आन्तरिक आकुलता या शारीरिक हिलन जुलनके होता है, लेकिन कभी उसका मुख भयानक रूप धारण कर लेता है और भड़क उठने सरीखा होता है, और उसका तमाम शरीर मानसिक शोकसे कम्पायमान हो जाता है; उस पर कँपकंपी चढ़ जाती है, उसके मत्थे पर पसीना आ जाता है; उसके होंठ काले पड़ कर एंठ जाते हैं; अन्तमें उसकी आंखोंसे आंसुओंकी धारायें बहने लगती हैं गम्भीर कषायोंसे उसकी छाती उभरने लगती है, उसकी आवाज रुक जाती है। धीरे धीरे यह हालतें दूर हो जाती हैं। इस वेगके पहिले और उसके उपरान्त यह बहुधा इतना खाना खा जाता है जितना चार भूखे पुरुष साधारणतया खा सके हैं।"

इस उदाहरण पर विचार करते हुए प्रोफेसर टी० डब० रूजी साहब फरमाते हैं—

"यह अद्भुत घटनायें जो ऐसे शब्दोंमें वर्णन की गई हैं जिनको पढ़ कर हर मनुष्य जो इन लोगोंकी विलक्षण मानसिक अवस्थाओंसे जानकारी रखता है, तुरन्त उनको सत्य मान लेगा, एनडोरकी भविष्यद्वक्ता स्त्री की कथा पर बहुत बड़ी रोशनी डालती है। जैसा कि इस स्त्रीकी कथामें आया है वैसे यहां भी भूत या देवका आत्मा .... वाणीका बदल जाना व उत्तम पुरुष सर्वनाममें बोलता पाया जाता है। अभाग्यवश (जोरकी विल्लोके अतिरिक्त) एनडोरकी उस पैगम्बरियर (भविष्यद्वक्ता स्त्री) के दशाका कुछ वर्णन नहीं है। परन्तु जो कुछ हमको दूसरे जरायोंसे (उदाहरणके तौर पर १—सैमवेल अध्याय १०—आयत २० ता २४) इसराइलोंमें ईश्वरी प्रवेशकी सहचर शारीरिक अवस्थाओं११ हाल मालूम होता है उसकी ठीक समानता पोलीनेशियाके भविष्यद्वक्ताओंकी इस कथा और दूसरी कथाओंमें पाई जाती है।"

इसी प्रकारके दृश्य मोरांसाहबके मकबरे पर हिन्दुस्तान में अमरीकाके स्थान पर देखे जासके हैं, और साधारण स्थाने भी इस प्रकारके कुछ न कुछ कृत्य बिना विशेष यत्न श्रमके दिखा सक्ते हैं। जैसा कि हमने ऊपर कहा है यह ईश्वरीय प्रवेश नहीं है परन्तु मन पर विचारके विशेष प्रभाव का परिणाम है। श्रुतिके सच्चे लक्षण रक्तकारयुद्धशास्त्रवाके में वर्णन किये गये हैं और संक्षेपसे इस प्रकार हैं

(१) वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान द्वारा उत्पन्न होती है।

(२) वह तर्क वितर्कमें किसी प्रकार खण्डन नहीं हो सकी, अर्थात् न्याय (मन्तक) उसका विरोध नहीं कर सक्ता।

(३) वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दसे (साक्षी) मुताबिक होती है।

(४) वह सर्व जीवोंकी हितकारी होती है, अर्थात् वह किसी प्रकार भी किसी प्राणीके दुःख या कष्टका कारण नहीं हो सकी—जानवरोंको भी दुःख और कष्टका नहीं।

(५) वह वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी सूचक है। और:—

(६) उसमें धार्मिक विषयमें भूल और भ्रमके दूर करने की योग्यता होती है।

सच्चे शास्त्रोंके उपर्युक्त लक्षणोंको ध्यानमें रखते हुए यह एक निगाहमें साफ होजाता है कि वेदोंके बारेमें यह दावा करना कि वह श्रुति होनेके कारण ईश्वरीय वाक्य हैं, समझदार अक़लके लिये नामुमकिन है। अगर्चे यह बात पहिले पहिल नागवार मालूम होती है तो भी उससे गुरेज़ नामुमकिन है, क्योंकि स्वयं हिन्दुओंने अपने वेदोंसे कई बातोंमें विरोध कर लिया है। उदाहरणके तौर पर यह इन्द्र, मित्र, वरुण व अन्य वैदिक देवताओंमेंसे बहुतोंकी अब पूजा उपासना नहीं करते हैं इस विरुद्धताका क्या अभिप्राय हो सक्ता है? अगर यह नहीं कि

वैदिक देवताओंका वास्तविक भाव कि उनका व्यक्तित्व केवल काल्पनिक है, लोगोंको मालूम हो गया और इस कारण उनकी उपासनाका प्रचलित रहना असम्भव पाया गया। इस बातसे भी कि वर्तमान हिन्दु प्रथा वेदोंमें कहे हुए जानवरों और मनुष्योंके बलिदानको पाशविक और नीच कर्म समझती है यही परिणाम उद्भूत होता है। वास्तवमें बलिदानके नियमके सम्बंध में पीछेके लेखकोंने शास्त्रीय वाक्यका भाव बदल कर गूढ़ अर्थ लगानेका प्रयत्न किया है, परन्तु प्राचीन रस्मों और रवाजोंसे जो आज तक चले आये हैं यह बात स्पष्ट है कि प्रारम्भमें इस का अर्थ ऐसा न था। यह बात कि उसके रचयिता मांसभक्षी ऋषी ही होंगे बिलकुल प्रत्यक्ष है, क्योंकि कोई सच्चा शुद्ध आचारी साधु कभी ख्यालमें भी अपने लेखको रक्त व मांसके अलंकारसे से, जिनके केवल अर्थहीके बारेमें भ्रम नहीं होसकता है बल्कि जो उसकी स्वाभाविक मनोवृत्तिको भी अवश्य घृणित मालूम होंगे, गन्दा नहीं बनायगा। इस लिये वेदोंका वह भाग, जिस में जीवोंके बलिदानका वर्णन है उन व्यक्तियोंका बनाया हुआ नहीं हो सक्ता है जो तप (अग्नि) को मुक्तिका कारण जानते थे, बल्कि वह पीछेसे किसी बुरे प्रभावसे शामिल हुआ होगा।

अब हिन्दूमतके विकासका बहुत स्पष्टताके साथ उपर्युक्त युक्तियोंके लिहाजसे जल्द पता चल सकता है। अलंकारिक शिक्षाके जन्मदाता ऋषियोंकी कल्पना शक्तिमें आत्मिक पूर्णता के प्राप्तिके उपायके तौर पर, जो उसके दैविक गुणोंकी प्रशंसा

करनेसे प्राप्त होती है, उत्पन्न होकर यह पश्चात्‌की सन्तानोंमें एक सुन्दर भजनोंके संग्रहके समान चला आया, जो कुछ समय व्यतीत होने पर श्रुतिके तौर पर माने गये, और फिर उनके भावार्थके भुला दिये जाने पर एक नये मतके बीज (मूल) बन गये। सबसे प्राचीन मन्त्र अनुमानतः वे थे जो अब ऋग्वेदमें शामिल हैं, सिवाय उनके जो जीवोंको बलिदान की आज्ञा देते हैं या किसी प्रकार उसका अनुमोदन करते हैं। उनका असली अर्थ अनुमानतः, उनके रचनेके समयमें बहुतसे मनुष्योंको मालूम था और चूंकि वह केवल लेखककी कुशलताके लिहाजसे ही सुन्दर नहीं गिने गये थे वरन् आत्मिक शुद्धताकी प्राप्तिके हेतु भी मुख्य कारण थे, इसलिये वह तुरन्त कंठस्थ कर लिये गये थे, और नित्य प्रति पूजापाठमें उनका व्यवहार रहस्यमयी शिक्षामें लवलीन ऋषि कवियों द्वारा होता था। समय के साथ उनकी प्रतिष्ठाके बढ़ते रहनेसे कुछ काल पश्चात् वह श्रुतिकी भांति पूर्णतया पूज्य माने गये और रहस्यवादकी उलझन में पड़ कर हर्ष माननेवाली रुझान (बुद्धि) के द्वारा उनमें सब प्रकारके अद्भुत गुण माने गये। इस कारण पश्चात्‌के लोगों ने उन मंत्रोंको, उनके भावार्थको, पूर्णतया न समझे हुये भी भावपूर्वक स्वीकार किया, और इनको अपने धर्मका ईश्वरीय प्रमाण माना। ईश्वरकृत शास्त्रकी भांति कायम होकर पूज्य मन्त्रोंका संग्रह रहस्यवादका आधार हो गया और समय २ पर उसमें हेर फेर और वृद्धि हुई। सबसे पहली वृद्धि जो उसमें

की गई, यह सब संबंध रखनेवालोंके लिये किसी बुरे प्रभावका पैदा हुई, क्योंकि जब कि उसका फल उन निरपराध प्राणियों के लिये, जिनका बलिदान देवताओंको देना उस समय नियत हुआ, दुख और कष्ट था। उसने बलि चढ़ानेवाले और उन सबको जो धर्मके नाम पर प्राणिघात करनेमें तत्पर हुये, दुर्गति और नरकगामी ठहराया, और अन्ततः असली और सत्यवेद को प्रतिष्ठाको भी गौरवहीन कर दिया।

लेकिन अधिक समझवाले मनुष्य शीघ्र ही इस बातको जान गये कि बलिदानका प्रभाव वास्तविक नहीं वरन् असत्य है, और उन्होंने इस बातको निश्चित कर लिया कि रक्तका बहाना अपनी या बलि-प्राणीकी मुक्तिका कारण कभी नहीं हो सका। परन्तु इस प्रथाकी जड़ें फैल गई थीं और एक दिनमें नष्ट नहीं हो सकी थीं। यह बहुत समय व्यतीत हो जानेके पश्चात् हुआ कि बलिदानकी प्रथाके विरोधमें जो लहर उठी थी उसमें इतनी शक्ति पैदा हो गई कि शास्त्रीय लेखका बदलना आवश्यकीय समझा गया। लेकिन यह कोई सहज बात नहीं थी क्योंकि यदि हम एक श्लोकके बारेमें भी शास्त्रीय अखण्ड सत्यताको अस्वीकार कर दें तो रहस्यवादके सिद्धान्तोंकी, जिनकी आशाका प्रभाव ईश्वरीय वाक्य पर निर्भर है, नींव बिलकुल खोखली हो जाती है। इसलिये वेदोंमें कांट छांट करना असम्भव था, और

* देखो फुट नोट नं १ पुस्तकके आखीरमें।

बुद्धिमान सुधारकको चिन्हवादकी, जो कांट छांटको छोड़ कर एक ही उपाय ईश्वरीय प्रमाण संबंधी आज्ञामें सुधार करनेका है सहायता लेनी पड़ी। चुनांचे एक चिन्हाश्रित यानी भावार्थका आधार वेदवाक्यके अर्थके हेतु ढूंढ़ा गया, और मुख्य जातिके वलि पशुओंके लक्षणों और उनके नामोंका युक्तिक भावोंके गुतार्थ कायम करनेके लिये प्रयोग किया गया। इस प्रकार मेढ़ा, बकरा, *व सांड़ जो वलि पशुओं तीन मुख्य जातिके जीव हैं,* आत्माकी कुछ घातक शक्तियोंके, जिनका नाश करना आत्मिक शुद्धताकी वृद्धि व मोक्षके हेतु आवश्यकीय है, चिन्ह* ठहराये गये। यह युक्ति सफल हुई, क्योंकि एक ओर तो उसने वेदोंकी आज्ञाको ईश्वरीय वाक्यकी भांति अजविदत छोड़ा और दूसरी ओर बलिदानकी अमानुषिक प्रथाको बन्द कर दिया और मनुष्योंके विचारोंको इस विषयमें सत्य मार्गकी ओर लगा दिया।

लेकिन पापके बीजमें जो बोया गया था इतना अधिक फूटकर फैलनेकी शक्ति थी कि यह वलिदान सिद्धान्तके भावार्थ के बदल जानेसे नष्ट न हो सकी। क्योंकि तमाम गुप्त शिक्षावाले मतोंने, जो ज्ञात पड़ता है कि धार्मिक विषयोंमें सदैव भारतवर्ष में उपस्थित रहस्यवादकी† मूल शिक्षा पर चलते थे, (यद्यपि उस समय भारतवर्षकी सीमायें कितनी क्यों न हों) वलिके खून

---

* देखो 'दि की आफ नालेज' अध्याय आठ ८

† देखो दि फाउन्टेन हड औफ रिलीजन बाबू गंगाप्रसाद एम. ए. कृत।

द्वारा स्वर्गमें जा पहुंचनेकी नवीन पृथाको स्वीकार कर लिया था और वह सहजमेंही एक ऐसी रीतिके छोड़नेके लिये, जिनमें उनको प्रिय भोजन अर्थात् जानवरोंका मांस खानेकी करीब है साफ तौरसे आज्ञा थी, प्रस्तुत नहीं किये जा सके। इस समय हमारे लिये जब कि इतना दीर्घकाल गुजर चुका है, यह सदैव असम्भव नहीं है कि हम प्रवृत्ति और निवृत्तिकी लहरोंका, जो हिन्दुओंके विचारोंके परिवर्तनसे बाद संसारमें उत्पन्न हुई, पता लगा सकें, परन्तु यह भी नहीं है कि हमारे पास वास्तवमें उसके सदृश कोई सबल उदाहरण न हो। यह उदाहरण यहूदियोंके मतकी शिक्षामें पाया जाता है जिसके बलिदान संबंधी विचारोंमें जान पड़ता है कि हिन्दुओंके भांति परिवर्तन हुये।
१ सैमवेल अध्याय १५ आयात २२:

"क्या खुदावन्दको सोख्तनी कुरबानियों और जबीहोंमें उतनी ही खुशी होती है जितनी कि खुदावन्दकी आवाजकी सुनवाईमें ? देख ! आज्ञा पालन करना बलिदान करनेसे अच्छा है और सुनना होना मेंढोंकी चरबीसे।"

एक प्रचलित रीतिका प्रबल खंडन न। शास्त्रके मायार्थके बदलनेका प्रयत्न इस वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है:—

"मैं तेरे घरसे कोई बैल नहीं लूंगा और न तेरे बाड़ेमेंसे बकरा......... अगर मैं भूखा होता तो तुझसे न कहता ....क्या मैं बैलोंका मांस खाऊंगा और बकरोंका खून पीऊंगा ? ईश्वरको धन्यवाद दे और अपने प्राणोंको परमा-

रमाके समक्ष पूरा कर" (जबूर ५० आयात ६ ता २५)
जरीमिया नवी इस विचारकी और पुष्टि करता है और इस
प्रकार ईश्वरीय वाक्य बतलाता है किः—

.........मैंने तुम्हारे पुरुषाओंको नहीं कहा, न उनको आज्ञा
दी ....भुनी हुई बलि और जवीहोंके लिये, परन्तु इस
बातकी मैंने इनको आज्ञा दी कि मेरी बातको सुनो......
और तुम उन सब रीतियों पर चलो जो कि मैंने तुमको
बतलायी हैं ताकि तुम्हारे लिये लाभदायक हो" (जरीमिया
नवीकी किताब अध्याय ७ आयात २१ ता २३)।

इन वाक्योंमें हिन्दूमतके परिवर्तनमें इतनी गहरी सदृशता
पाई जाती है कि यह आकस्मिक बात नहीं हो सकती और इस
में उसी कर्ताका हाथ पाया जाता है जिसको प्रोफेसर डूयाय-
स्सनने बृहदारण्यकमें बलिदान सिद्धांतको धार्मिक भावमें परि-
वर्तन करते हुये पाया (देखो दी सिस्टम आफ वेदान्त पृष्ठ ८)
परन्तु यह कुरीति अब तक चली आई है। परिणाम यह है कि
हिन्दूमत अपनी ही सन्तानको जिसका एक दूरके देशमें पालन
पोषण हुआ है अपने ही सन्मुख उपस्थित और अपनी आज्ञाका
उल्लंघन करते हुये पाता है, और अपने ही शास्त्रोंको गोमेधके
विषयमें जो अब पूर्णतया घृणित हो गया है अपने विरोधियों
के सिद्धांतोंकी पुष्टि करते हुये पाता है। कुछ थोड़ा समय हुआ
स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्थापक आर्यसमाजने जो व्याक-
रणके अच्छे ज्ञाता थे, इस बातसे एककलम (एकदम) इन्कार

करके कि वेदोंमें पशु वधका वर्णन है और योरोपियन विद्वानों के अनुवादोंकी सत्यताको भी अस्वीकार करके इन कठिनाईसे बचना चाहा। परन्तु इस प्रकारका प्रयत्न स्वयम् साक्षी देनेवाली बातोंकी उपस्थितिमें कारगर नहीं हुआ करता है। प्राचीन प्रचलित रीति रिवाज स्वयं इस बातका प्रमाण है कि वेदोंके अनुयायी बलिदान करते थे। आज भी उक्त धर्मके हिन्दू पाये जाते हैं जो पशुओंका बलिदान करते हैं और जिनमें ब्राह्मण वध करनेवाले (होता) होते हैं। यह बात खुल्लमखुल्ला शाक-भोजी मतमें सहन नहीं की जा सकती थी और इस अमरको सिद्ध करता है कि वर्तमान समयसे पूर्वकालमें बलिदानकी रस्म अधिक प्रचलित थी। हिन्दुओं और ब्राह्मणोंमें मांस का खाना कोई असाधारण बात नहीं है, और यह स्वतः ही प्रामाणिक बात है। यह बात नहीं है कि यह लोग मांसको छिपा कर खाते हैं, वरन् जो उसको खाते हैं, वह उसके खानेके कारण किसी अंशमें भी अन्य हिन्दुओंसे कम नहीं समझे जाते हैं, गोकि बहुतसे उसको अपनी इच्छासे नहीं भी खाते हैं। इस प्रकार गत समयमें सर्व साधारणके भोज्यके तौर पर मांसका स्वीकार किया जाना असम्भव था। मुख्यतया सदाचारके नियमोंके कड़े पालन और सब प्रकारके हिन्दुओंके जाति व्यवहार के लिहाजसे सिवाय उस हालतके कि वह किसी पूज्य शास्त्र द्वारा जो वेदशास्त्रोंके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकते, प्रचलित किया गया हो। हम इसलिये नतीजा निकालते हैं कि आर्य-

समाजका निर्वाचित अर्थ* वेदोंका सच्चा अर्थ नहीं है। जहां तक कि अंग्रेजी अनुवादोंका संबन्ध है यह करीन कयास नहीं है कि यह बिल्कुल ही असत्य हों, कारण कि वे भी प्रसिद्ध हिन्दू वृत्तिकारोंके आधार पर बने हैं और न सर्व साधारण हिन्दुओंने ही उनको असत्य माना है।

हिन्दूमतके विश्वासकी ओर ध्यान देते हुये हमारे निर्णयोंकी शुद्धता प्रत्येक व्यक्तिको विदित हो जावेगी जो निम्नलिखित वाक्यों पर पूरी तरहसे विचार करेगा।

(१) शब्दार्थमें वेद पशु व पुरुष बलिदानका प्रचार करते हैं।

(२) हिन्दू लोग अब गऊ और मनुष्यके बलिदानके सख्त विरोधी हैं जो दोनों उनके पूज्य शास्त्रोंमें गोमेध व पुरुषमेधके पवित्र नामोंसे प्रसिद्ध हैं।

(३) अश्वमेध अब बिल्कुल बन्द हो गया है और अज-मेधका भी यही हाल है गोकि बकरेका मांस अब भी कुछ मूढ़ विश्वासी मनुष्यों द्वारा देवी देवताओंके प्रसन्नार्थ अर्पण किया जाता है।

(४) यज्ञसंबन्धी मंत्र अभी तक हिन्दू शास्त्रोंमें शामिल हैं गोकि यह साफ है कि उनका भाव शब्दार्थसे बदल कर भावार्थ† में लगा दिया गया है।

---

* देखो फुट नोट नं० २ पुस्तकके अंतमें।

† देखो फुट नोट नं० ३ पुस्तकके अंतमें।

(५) इन मंत्रोंकी भाषा किसी भिन्न भगवान (ऊपर) एक नहीं हो सकती और न गुप्तद्वारी (जादूगरों) ऋषियोंकी हो सकती है क्योंकि पवित्र (ईश्वर) जो किसी पापमयी पूजा की स्वयं या अप्रत्यक्ष तौरसे पुष्टि नहीं करेगा और न समर्थ पाजने वाली भाषाका प्रयोग करेगा और अश्लील शब्द और इसके अलंकारोंकी रचना कभी नहीं करेंगे।

इन वाक्योंके साथ यह बातभी ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदोंकी भाषाका अर्थ इसी प्रकार समझाया जा सकता है कि उनके शब्दोंके आद्य अर्थसे नीचे दिया हुआ एक गुप्त व्यापक सिद्धान्त माना जावे, जोकि इस तमाम कथन अलङ्कारोंके भावको जिनका ऋषियोंने पवित्र मन्त्रोंमें प्रयोग किया है, न समझ पावें। यद्यपि इनके कथन तो पुराणोंमें दिये हुए कथाओंकी सहायतासे समझमें आ जाते हैं, और इसलिये किसी पश्चात्के ग्रन्थ की व्याख्याओंका उनसे पहिलेके ग्रन्थमें पढ़ना न्यायसंगत नहीं है तथापि इस बातसे इनकार नहीं किया जा सकता है कि पुराणोंकी कथायें वेदोंके देवी देवताओंका सुविस्तरत* वर्णन

* देखोः—

"जैसा कि निम्न लेखसे विदित है, पुराणोंको भी ......यथार्थमें वेदों से पहिला कहा जा सकता है :—

प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्,
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ।
अंगानि धर्मशास्त्रं च व्रतानि नियमास्तथा ॥

मत्स्यपुराणम् ॥"

है। यह बात भी ध्यानमें रखनेके योग्य है कि इन्द्र वरुण आदिक वैदिक देवताओंकी पूजाका बन्द हो जाना इसकी दलील है कि यह लोगोंको उनके मुख्य स्वरूपके पता लग जानेके कारण हुआ, इसलिये जब लोगोंको यह मालूम होगया कि यह केवल मानसिक कल्पनाके व्यक्तिगत रूपक हैं तो उन्होंने उस पूजाको जो उनके प्रसन्नार्थ किया करते थे, बन्द कर दिया। अनुमानतः वेदोंके और वैदिक देवताओंके गुप्तार्थकी कुञ्जी कभी बिल्कुल नष्ट नहीं हो गई थी, सेवक गण, साधारण ब्राह्मण और साधु भी चाहे कितने ही उससे अनभिज्ञ क्यों न रहे हों। बुद्धिमत्ताकी लहरके अन्तमें जो ब्राह्मणोंके समयमें बलिदानकी निवृत्तिके पश्चात् उठी, मालूम होता है इन कुञ्जीका बहुत अधिक प्रयोग किया गया। इस प्रकार महाभारत और रामायण की पर्वों और पुराणोंके रचे जानेके समयमें देवी देवताओंका एक बड़ा समूह जिसकी संख्या ३३ करोड़ है उस प्रारम्भिक और सीमित देवी देवताओंके कुटुम्बमेंसे जिनका वर्णन है, वेदोंमें है, निकल पड़ा। इनके अतिरिक्त कुछ और काल्पनिक व्यक्तियों जैसे कृष्णकी रचना भी हिंदू पुराणोंके रचयि-

---

(दि परमानेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष जिल्द ; २. पृ० ८.)

अर्थ:—"ब्रह्माने सब शास्त्रोंमें सबसे पहिले पुराणको सुनाया और तत्पश्चात् उनके मुखसे वेद, अंग, धर्म, शास्त्र, व्रत और नियम निकले।"

न्तायोंने रच डालीं। मगर यह कहना न्याययुक्त होगा कि यद्यपि रामायण, महाभारत और पुराणोंने सच्चे ऐतिहासिक घटनाओंको रहस्यपूर्ण और अलंकृत * पोशाक पहना कर इतिहासमें बड़ी गड़बड़ उत्पन्न कर दी तो भी उनके साथ ही उन्होंने अपने देवताओंके कल्पितस्वरूपको दिखा कर धार्मिक उपासनामें बहुत कुछ सुधार किया। यद्यपि यह सुधार निस्सन्देह गम्भीर था तथापि यह अपने उद्देश्यकी पूर्तिमें असफल रहा, क्योंकि केवल कल्पित देवतासमूहकी रचनाओंने अर्ध काल्पनिक अर्ध ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी पूजा-के लिये द्वार खोल दिया, और साथमें ही कुछ नवीन समय के मगर प्राचीन प्रकारके देवतागण भी पूजा और प्रतिष्ठाके पात्र माने गये। राम और कृष्ण प्रथम प्रकारके और शिव पिछले प्रकारके देवता हैं। इनमेंसे वेदोंमें किसीका भी वर्णन नहीं है जो एक ऐसी बात है जिससे योरुपियन समालोचकों की इस रायकी पुष्टि होती है कि हिन्दुओंने अपने देवताओं को बदल दिया है। मगर इस दोषसे हिन्दू इतने अपराधी नहीं हैं जितना वह रहस्यवादका प्रभाव है जो उनके मतमें व्याप्त है क्योंकि जहां कुल धर्म शिक्षा ऐसी भाषामें दी गई है कि जिसका शब्दार्थ तो कुछ और है और भावार्थ कुछ और ही है, वहां मनुष्य चक्करमें पड़ सकते हैं और क्षमाके पात्र हैं अगर उनसे भूल हो जावे। उपनिषदोंने इस रहस्य व अन्धकारमई

* देखो फुट नोट नं० ४ पुस्तकके अन्तमें।

अनिश्चितपनको अपने धर्मसे दूर करनेकी कोशिश की और अज्ञान और मिथ्या विश्वासके अन्ध कूपोंको बहुत कुछ तोड़ा, परन्तु बुद्धिमत्ताकी मशाल, जिसको उन्होंने प्रज्वलित किया— उसकी प्रभा, मालूम होता है कि केवल टिमटिमाहटके तौर पर ही रही। उपनिषद् भी गुप्त चिन्हवादसे बिल्कुल वञ्चित नहीं है और उनका प्रकाश न तो उनके मतके सर्व अन्धेरे कूओंमें ही पहुंचता है और न वह सर्वेव अन्धकारसे भिन्न ही पाया जाता है। षट् प्रसिद्ध दर्शन भी जो उपनिषदोंके कालके पश्चात् बने, परस्पर एक दूसरेके खण्डन करनेमें ही अपनी शक्तिको नष्ट कर देते हैं और संसारसम्बन्धी बातोंकी मुख्तलिफ़ और मुखालिफ व्याख्या करते हैं। केवल एक बात, जिसमें वह सब सहमत हैं, वेदोंकी ईश्वरकृत होनेके कारण अखण्ड सत्यता है। इस प्रकार अपने रहस्यवाद शास्त्रको ईश्वरकृत मान लेनेसे खोजके विशालक्षेत्रसे वञ्चित रहने और दृष्टिक्षेत्रके संकुचित होनेके कारण वह सत्य दार्शनिक नयवादको भी न समझ सके और एकरुखी एकान्तवादके जालमें फंस गये जो असावधानोंको * फंसानेके लिये तैयार रहता है। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव शंकाओं और कठिनाइयोंके दूर करनेके स्थानमें जो तत्त्व ज्ञानका सच्चा उद्देश्य है उन्होंने अपनेही धर्मको पहिलेसे अधिक अनिश्चित

---

* देखो . . . . फुट नोट नं० ५।

बना दिया, और उनका वास्तविक उपयोग इस व्यर्थ वाद-विवाद पर सीमित है जो वेदोंके अनुयायियोंमें बराबर जारी है।

सत्य यह है कि एक पूर्ण स्थापित वैज्ञानिक धर्मसे भ्रष्ट पानेके पश्चात् ऋग्वेदके रहस्यपूर्ण काव्यमें, जो आधुनिक धर्मकी नींव है, भूत कालमें इतनी वृद्धियां व तब्दीलियां हुई हैं कि लोग उसकी असलियतको भूल गये हैं जिनमेंसे एक फिर्केको जो आज कल विद्या कीर्तिके पात्र हो रहे हैं, उसमें एक वाबर जातिसे विकसित मस्तिष्कके विचारोंके सिवाय और कुछ नहीं दिखता है और दूसरेको जो धर्मके अंधश्रद्धानी हैं हरएक अक्षर और शब्दमें ईश्वरीय वाक्य ही दिखाई देता है। अगर वह परिणाम जो इन पृष्ठोंमें निकाला गया है, सही है तो इन दोनों विचारोंमेंसे कोई भी सत्य नहीं है, क्योंकि ऋषि कवि शिक्षित बालक न थे, जैसा कि वे समझे जाते हैं, और न वह किसी दैवी वाणीसे उत्तेजित ही थे। असलमें ही हिन्दू धर्म जैनधर्मकी एक शाखा थी, गोकि उसने अपने आपको शीघ्र ही एक स्वतन्त्र धर्मके रूपमें स्थापित कर लिया। समयके व्यतीत होने पर वह किसी राक्षसी प्रभावमें आगया। जिसका विरोधी आन्दोलन उपनिषदोंकी बुद्धिमत्ता और जगत प्रसिद्ध दर्शनों, न्याय, वेदांत आदिकी कृति व कारण लक्ष्य है। अपने आपको एक स्वतन्त्रमत स्थापित कर देनेके कारण स्वाभाविकही वह जैन मतको अपना विरोधी समझने पर बाध्य हुआ, और दर्शनोंमेंसे कुछमें जैन सिद्धान्तके खण्डनार्थ सूत्र भी लिखे गये हैं, यद्यपि

जिस वस्तुका वह वाकई खण्डन करते हैं वह वास्तवमें जैन सिद्धान्त नहीं है जैसा कि अन्य लोग समझते हैं बल्कि स्वयं उनकी मन मानी कल्पनायें हैं जो जैनमतके बारेमें उन्होंने गढ़ ली हैं।

हम इस प्रकार यह परिणाम निकालते हैं कि दोनों धर्मों में अधिक* प्राचीनताका प्रश्न जैनमतके हकमें फैसला होना चाहिये, और यह कि पूज्य तीर्थंकरोंका मत हिन्दु मतकी पुत्री या झगड़ालू संतान होनेके बजाय वास्तवमें स्वयं उस निस्स-

* यह आशंका कि वेदोंकी भाषा जैन शास्त्रोंकी भाषासे शताब्दियों पहिलेकी जान पड़ती है, व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन कालमें मनुष्य अपने शास्त्रोंको कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखते थे। जैनमत और हिन्दू मतके शास्त्र भी प्रथम इसी विधिसे सुरक्षित थे. और लेखनकलाका प्रयोग अभी कुछ काल पूर्वके ऐतिहासिक समयमें हुआ है परंतु वेद कवितामें लिखे गये हैं जिसका अभिप्राय यह है कि वेदोंकी भाषा सदैवके लिये नियत हो गई, जिसमें परिवर्तन नहीं हो सक्ता इसलिये वे सदैव अपने रचनेके समयको ही दर्शायेंगे। बिला लिहाज इस अमरको, वह कब लिखे जावें। यह बात जैनमतमें नहीं पाई जाती है, जिसके शास्त्रोंकी भाषा सदैवके लिये नियत नहीं है। अतएव जिस भाषामें जैनसिद्धांत लिखे गये हैं वह वही भाषा है जो उनके लेखनसमयमें प्रचलित थी। जैनमतके सम्बंध में भाषाकी जांच इस कारण अफल होती है और उसकी प्राचीनताका अनुमान विपक्षी धर्मोंके शास्त्रोंकी आंतरिक साक्षी द्वारा ही हो सक्ता है।

नेद प्राचीन धर्मका आधार है। खुलासा यह है कि हिंदू धर्म अपनी उत्पत्तिके लिये उन तीव्र कुशलतावाले कवियोंका ऋणी है जिन्होंने अपनी अपरिमित कल्पनाके जोशमें आत्मा की अप्रगट और दैवी शक्तियोंको काव्यविचारमें व्यक्तिगत बांधा। वह वहशी न थे और न उनके लेखोंमें कोई ऐसी अज्ञानपूर्ण या वहशियाना बेवकूफीकी बात पाई जाती है जिसके कारण यह कहा जासके कि उस समयके मनुष्य बच्चोंके बचपनमें मुब्तिला थे। इसके विपरीत उनका ज्ञान जैनमत के अबाध्य सिद्धान्त पर निर्भर था जो तीर्थंकरोंसे निकली हुई श्रुतिके आधार पर स्थापित है। समयकी गतिने माता और पुत्रीमें पूरा वियोग पैदा कर दिया। और पुत्री पाखण्ड को दुष्टोंके हाथमें पड़ गई। उसका परिणाम नाना प्रकारकी पापकी संतान (यज्ञोंकी रीति) हुए जिसको उसने किसी भयानक प्रभावके कारण जना। इसके बाद यह उपनिषद्के रचनेवाले ऋषियोंकी रक्षामें जङ्गलोंकी तनहाई में पश्चात्ताप करती हुई मिलती है, और फिर इसके बाद हम उसको बुद्धिमत्ताके विश्वविद्यालयमें अपने कुं नये और मुख्तलिफ़ मगर Ill fitting (अयोग्य) बौनों (चीरों) को सम्भालते हुए पाते हैं। और अब जब कि आधुनिक खोजकी X-ray अप्रबल बुद्धिमत्ता उनके निहायत अभूदय और मनमावने आभूषणोंको प्रारम्भिक मनुष्यके हनूमान * आदिसे निकलनेके

* मेवारकी प्रहेलिका विकाशवादियोंको सदैव उस समय तक इतो-

थोड़े ही पश्चात्‌का काम साबित कर रही है तो वह अपने उस

रसाई करेगी जब तक कि वे आत्माकी जो अपने स्वभावसे सर्वज्ञ है, जैसा कि "की आफ नॉलेज" और "साइन्स आफ थोट" में पूर्ण रीतिसे साबित किया गया है, शक्तियों और गुणोंके स्वरूपका यथोचित ज्ञान प्राप्त न कर लें। इस सम्पूर्ण ज्ञानकी शक्तिको स्वयं पूरे तौरसे अनुभवमें प्रगट करनेके लिये किसी वस्तुको बाहरसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु केवल उस बाह्य पुद्गलके अंशको जो आत्माके साथ लगा हुआ है, दूर करनेकी है। इस प्रकार जितना ही सादा (वैराग्यरूप) जीवन होगा, उतने ही अधिक उच्च प्रकारके ज्ञानकी प्राप्तिके अवसर मिलेंगे। इसलिये हमारे पूर्वज जिनका जीवन बहुत सादा था और जिनके विचार बहुत उच्च थे सच्ची बुद्धिमत्ताके प्राप्त करनेके हेतु उससे अधिक योग्य थे जैसा उनकी वर्तमान समय दूरकी संतान ख्याल करती है। यह बात कि वास्तवमें भी, यही हाल है, प्राचीन कथाओं (पुराणों आदिसे) सिद्ध है, जिसका अनुमोदन सामान्य रूपसे धर्मसंबंधी विचारों और विशेष रूपसे जैनसिद्धांतकी अद्भुत पूर्णताकी आंतरिक साक्षीसे होता है। इस प्रकार विदित होगा कि अपने अधिकतर वैज्ञानिक गुणोंसे अपने पूर्वजोंको चकाचौंध कर देनेकी बजाय हमने उनको छोड़ी हुई शिक्षानिधिको भी बहुत कुछ नष्ट कर दिया है और अब गर्व करनेके लिये हमारे पास परिवर्तन शील फैशनों और कार्य-हीन पौद्गलिकताके अतिरिक्त नहीं है। निःसंदेह यह उन्नति और विकाशके मार्गकी ओर चलना नहीं है परंतु इसके विपरीत उधर पग धरना है।

भूले हुए भूत कालको जिसके कारण उसको बहुत दुःख मिला है फिर स्मरण करनेकी चेष्टा कर रही है । स्वयम् एक सर्व विख्यात माताकी संतान होनेके कारण हम उसको अपने विद्रुसे समझके, जब कि उसके बड़े प्रशंसक कवि उस की तत्त्व शिक्षाके भावोंको आलंकारिक भाषामें परिवर्तन करके सहज बना दिया करते थे, कुछ कुछ सुमिरन करनेसे हर्षमें प्रफुल्लित होते हुए ध्यान कर सकते हैं । इसकी माता अब भी उसे हाथ पसारे हुए वापस लेनेको प्रस्तुत है, और यद्यपि वह अब वृद्धा हो गई है तथापि वह प्रेम और क्षमासे आज भी वैसी ही पूर्ण है जैसी कि वह सदैव रही है । निस्सन्देह वह एक शुभ समय होगा जब कि हिंदू और जैनधर्मका पारस्परिक संबंध पूर्णतया ज्ञात किया जायेगा, और आशा है कि 'माता और पुत्रीका' शुभसम्मेलन सब सम्बन्धियोंको शान्ति और आनन्द प्रदान करेगा ।

इति

फुट नोट नम्बर १
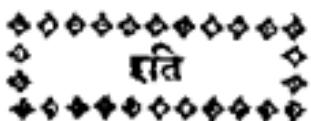
इस क्रूरताके नवीन परिवर्तनका निम्न वृत्तान्त जैन पुराणों की सहायतासे इस प्रकार पाया जाता है:—

एक समय राजा वसुके राजमें, जिसको बहुत काल व्यतीत हुआ एक शख्स नारद और उसके गुरु भाई परवतमें 'अज' के अर्थ पर, जिसका प्रयोग देव-पूजामें होता था, विवाद हुआ। इस शब्दके वर्तमान समयमें दो अर्थ हैं, एक तो तीन वर्षके पुराने धान जिनमें अंखुआ (अंकुरा) नहीं निकल सका है और दूसरा 'बकरा'। पर्वतने, जो अनुमानतः माँस भक्षणका विजाती था इस बात पर जोर दिया कि इस शब्द का अर्थ बकरा ही है, मगर नारदने पुराने अर्थकी पुष्टि की। सर्व जनताकी सम्मति, सनातन रीति और प्रतिवादीकी युक्तियोंसे परवतकी पराजय हुई, मगर उसने राजाके समक्ष इस घटनाको उपस्थित किया, जो स्वयम् उसके पिताका शिष्य था। राजाकी सम्मति परवतके अनुकूल प्राप्त करनेके हेतु परवतकी मा छिप कर महलोंमें गई और उससे अपने पतिकी गुरुदक्षिणा मांगी और इस बातकी इच्छुक हुई कि मुंह-मांगा वर पावे। वसुने, जिसको इस बातका क्या गुमान हो सकता था कि उससे क्या मांगा जायगा, अपना वचन दे दिया। तब परवतकी मांने उसको बतलाया कि वह परवतके अनुकूल फैसला करे और यद्यपि वसुने अपनी प्रतिज्ञासे हटनेका प्रयत्न किया। मगर पर्वतकी मांने उसको, ऐसा करनेसे रोका और

प्रतिज्ञासे न हटने दिया। दूसरे दिन मामला राजाके सामने उपस्थित हुआ जिसने अपनी सम्मति परवतके अनुकूल दी। इस पर वसु मार डाला गया और परवत राजधानीसे दुर्गतिके साथ निकाल दिया गया। परन्तु उसने अपनी शक्ति भर अपनी शिक्षाके फैलानेका प्रण कर लिया। पर्वत अभी सोच ही रहा था कि उसको क्या करना चाहिये कि इतनेमें एक पिशाच पातालसे ब्राह्मण ऋषिका भेष बना कर उस के पास आया। यह पिशाच, जिसने अपना सांडिल्य ऋषिके तौर पर परवतको परिचय दिया। अपने पूर्व जन्ममें मधुपिङ्गल नामी राजकुमार हुआ था जो अपने बैरी (रकीब) द्वारा धोखा खाकर अपनी भावी स्त्रीसे वञ्चित रक्खा गया था। इसका विवरण यों है कि मधुपिंगलको राजकुमारी सुलसाके स्वयम्बर में वरमाला द्वारा स्वीकार किये जानेका पूरा मौका था क्योंकि उसकी मांने उसको पहले निजी तौरसे स्वीकार कर लिया था। उसके रकीब सगरको इस गुप्त प्रबन्धका हाल मालूम हो गया और सुलसाके प्रेममें अन्धा होकर उसने अपने मंत्रीसे इस बात की इच्छा प्रगट की कि वह कोई यत्न राजकुमारीकी प्राप्तिका करे। इस दुष्ट मंत्रीने एक बनावटी सामुद्रिक शास्त्र रचा और उसको गुप्त रीतिसे स्वयम्बर मण्डपके नीचे गाड़ दिया और जब स्वयम्बरमें आये हुये राजकुमारोंने अपने अपने आसन ग्रहण कर लिये तो उसने छलपूर्वक ज्योतिष द्वारा एक प्राचीन शास्त्रका स्वयम्बरके मण्डपके नीचे गड़ा होना बतलाया। किस्सा मुख्त-

-सर आली दस्तावेज खोद कर निकाला गया और सभाने मंत्री से उसके पढ़नेका अनुरोध किया।

उसने शास्त्र पढ़ना आरम्भ किया और शीघ्र ही आंखोंके वर्णन पर आया जिसके कारण मधुपिङ्गल विशेषतया प्रसिद्ध था बड़े हर्ष सहित मधुपिङ्गलके उस शत्रुने बनावटी सामुद्रिक शास्त्रके एक एक शब्दको, जिसमें मधुपिंगलके ऐसी आंखोंकी बुराई की गई थी, जोर दे दे कर पढ़ा, कि वह दुर्भाग्यकी सूचक होती हैं और उनका स्वामी कर्महीन, अभागा, मित्र और कुटुम्बियोंके लिये अशुभ है। बेचारे मधुपिंगलके आंसू निकल आये और वह सभामेंसे उठ गया। इस कपट-क्रियाके द्वारा परास्त, दुःखित और लज्जित हो कर उसने अपने कपड़े फाड़ डाले और संसारको त्याग सन्यासीका जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इस समय सुलसाने स्वयम्बरमें प्रवेश किया और सगरको अपना पति स्वीकार किया।

इसके कुछ काल पश्चात् मधुपिंगलने एक सामुद्रिकके जानकारसे सुना कि उसके साथ छल किया गया और धोखा हुआ तथा अन्याय युक्त विधियोंसे उसकी भावी स्त्रीसे उसको प्रथक् किया गया। उसने उसी क्रोधकी हालतमें जो धोखेके हालके खुल जानेसे उत्पन्न हुआ था, अपने प्राण तज दिये। मरकर वह पातालमें पिशाच योनिमें उत्पन्न हुआ जहां उसको अपने पूर्व जन्मके धोखा खानेका बोध हो गया और वह वहांसे अपने शत्रुओंसे बदला लेनेको चला। वह तुरन्त

मनुष्योंके देशमें आया और परयतसे उस समय उसका समागम हुआ जब कि यह वसुके राज्यसे निकाला गया था और सोच विचारमें था कि यह 'अज' शब्दके अपने (नवीन) अर्थको किस प्रकार संसारमें फैलावे। उसने परयतको अपने शत्रुसे बदला लेनेमें योग्य और प्रस्तुत सहायक जानकर उसके दुष्ट कार्यकी पूर्तिमें सहायता देनेकी प्रतिज्ञा की। मनुष्य और पिशाच की इस अशुभ प्रतिज्ञाके अनुसार यह निश्चय हुआ कि परयत सगरके नगरको जाय जहां पर महाकाल (यह उस पिशाचका वास्तविक नाम था) सब प्रकारके वबा (रोग) और मरी फैलावेगा जो परवतके उपायोंसे दूर हो जायेंगी ताकि इस प्रकार परवतकी प्रतिष्ठा वहांके लोगोंकी निगाहमें हो जाय जिन में वह अपने भावोंका प्रचार करना चाहता था। पिशाचने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और परयतने समस्त प्राणियोंको बुरे बुरे रोगोंमें ग्रसित पाया जिनका वह मन्त्रों द्वारा सफलता पूर्वक इलाज करने लगा। परन्तु उस अभागे राज्यमें हर रोगकी जगह पर जो अच्छा हो जाता था, दो नये और रोग उत्पन्न हो जाते थे। यहां तक कि लोगोंको इस बातका विश्वास हो गया कि उन पर देवताओंका कोप है और उन्होंने परयतसे, जिसको वह अब अपना मुख्य रक्षक समझने लगे थे, इस बारेमें सम्मति ली। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हो गया और अन्तमें यह विचारा गया कि अब बलिदानकी नवीन प्रथाके आरम्भके लिये समय अनुकूल है। आरम्भ कालमें प्राणियोंके बलिदान का संकेत

विरोध हुआ, परन्तु बहुत काल तक झेले हुये असह्य दुःखों और पर्वतकी अतुल प्रतिष्ठाने जो पूजाके दर्जे तक पहुंच गई थी, और मुख्यतः उस श्रद्धाने जो उसकी अद्भुत शक्तिके कारण लोगोंमें उत्पन्न हो गई थी और जो वास्तवमें उसकी कार्य्य सफलताके अनुभव पर निर्धारित थी, मन्द साहसवाले हृदयोंको उसकी आज्ञा पालनके लिए प्रस्तुत कर दिया। सबसे पहले मांस बाज़ बाज़ रोगोंमें दवाईके तौर पर दिया गया और वह कभी आशाजनक परिणामके उत्पन्न करनेमें निष्फल नहीं हुआ। जिस बातको पर्वत वादविवादसे साबित नहीं कर पाया था उसीको वह अपने पिशाच मित्रकी सहायतासे इस कार्य्य परिणित युक्ति द्वारा साबित करनेमें फलीभूत हुआ। धीरे धीरे उसके शिष्योंकी संख्या बराबर बढ़ती गई। यहां तक कि परवतके इस बातके विश्वास दिलाने पर कि बलिसे पशुको कष्ट नहीं होता है वरन् वह सीधा स्वर्गको पहुंच जाता है, 'अज'-मेध (यज्ञ) किया गया। यहां भी महाकालकी शक्तियों पर भरोसा किया गया था जो कार्य्य हीन नहीं हुई, क्योंकि ज्यों ही बलिपशुने पवित्र छुरीके नीचे तड़पना व कराहना आरम्भ किया, त्योंही महाकालने अपनी माया-शक्तिसे एक विमानमें एक बकरेको हर्षित व प्रसन्न स्वर्गकी ओर जाते हुये बना कर दिखा दिया। सगरके राज्यके बुद्धि भ्रष्ट लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये अब किसी चीजकी आवश्यकता नहीं रह गई। अज मेधके पश्चात् गोमेध हुआ, गोमेधके बाद अश्वमेध और अन्ततः पुरुषमेध भी बड़े

समारोहके साथ मनाया गया जिनमेंसे हर एकने अपना आशा-जनक फल दिखलाया। हर यज्ञमें वलि-पशु या मनुष्यको स्वर्ग जाते हुये भी दिखाया गया। जैसे जैसे समय व्यतीत होते गया लोगोंके हृदयोंसे मांस भक्षण व जीव हिंसाकी घृणा जो उनमें प्रारंभिक अवस्थामें थी निकलती गई, यहां तक कि अन्तमें बलिदान वलि-प्राणीके लिये स्वर्गके निकटस्थ मार्ग माना जाने लगा। इस प्रथाकी एक व्याख्या वास्तवमें बलिदानके शास्त्रोंमें जो उस समयमें रचे गये थे कर दी गई और लोगोंके दिलोंमें इन रीतियोंके लिये इतनी श्रद्धा हो गई कि बहुतसे आदमी हर्षपूर्वक यह विश्वास करके कि वे इस प्रकार तुरन्त स्वर्ग पहुंच जायेंगे स्वयम् अपनी वलि चढ़ानेके लिये तत्पर हो गये। अन्तमें सुलसा और उसका कपटी चाहनेवाला सगर भी देवताओंके प्रसन्नार्थ अपना अपना बलिदान कराने आये और वेदी पर काट डाले गये।

पिशाचका प्रण अब पूर्ण हो गया। उसने अपना बदला ले लिया और पाताललोकको चला गया। उसके चले जाने से बलिदानका बनावटी प्रभाव बहुत कुछ जाता रहा परन्तु चूंकि वह अपने साथ वस्तुओं और महाताडियोंका भी लेता गया, इस कारणवश उसकी ओर प्रारम्भमें लोगोंका ध्यान नहीं गया। नवीन रचे गये वाक्यके कि 'वलिप्राणी सीधा स्वर्गको पहुंच जाता है' अप्रमाणित होनेको अब लोग इस प्रकार समझने लगे कि यह पवित्र मन्त्रोंके उच्चारण या शुद्ध

अनुवाचनमें जो बलिदानके समय पढ़े जाते थे, किसी त्रुटिके रह जानेके कारणसे अथवा किसी प्रकारके किसी और कारणसे है। इसी बीचमें यज्ञ करानेवाले होताओंके निमित्त यज्ञकी पूरी विधि भी तय्यार कर ली गई थी और आचारिक पद्धतिका एक सम्पूर्ण नीति शास्त्र भी तय्यार हो गया था, जिसमें छोटे छोटे नियमों पर भी अच्छी तरहसे विचार किया गया था। अनुमानतः प्राचीन (ऋग्वेदके) समय के कुछ मन्त्रोंमें भी परवत और उसके मातहत शिष्योंके अनुसार परिवर्तन कर दिया गया था। नगरकी राजधानीसे बढ़ कर यह नई शिक्षा दूर तक फैल गई और पिशाचके अपने निवास स्थानको प्रस्थान करनेके पश्चात् भी होताओंकी शक्तियाँ, जो उनको मिस्मरेजम, योगविद्या इत्यादिके अभ्यास से जिनमें मालूम होता है कि उनका भली प्रकार प्रवेश कराया गया था, प्राप्त हुई थी; लोगोंको परवतके दुष्टमतकी ओर आकर्षण करनेमें पर्याप्त रहीं।

इस कथनकी पुष्टि जब हम स्वयं हिंदु शास्त्रोंके वाक्योंसे पाते हैं तो हमारा विचार उपर्युक्त जैन शास्त्रोंमें वर्णित हिंसाके कारणकी सत्यता पर दृढ़ हो जाता है। देखिये—भारत शांति पर्वके ३३६ अध्यायमें लिखा है कि—

चंद्रवंशीय कृति राजाके वसु नामके पुत्र थे जो परम वैष्णव और स्वर्गराज इन्द्रके परम प्यारे मित्र थे।

इन्द्रने इन्हें एक आकाशगामी रथ प्रदान किया था। इसी

पर चढ़ करके ये प्रायः सर्वदा उपरिदेश (आकाश)-को जाया करते थे। इसी कारण इनका नाम उपरिचर हुआ था। सत्य-युगके किसी समयमें याजक ऋषि और देवताओंके बीच एक भयानक विवाद उपस्थित हुआ। विवाद होनेका कारण यह था कि ऋषिगण पशु हिंसाको पाप समझ केवल धान्यादि बीज समूह द्वारा याग करते थे। देवगण ऋषियोंके इस व्यवहारसे सन्तुष्ट न हो कर एक दिन उनके निकट आ कर बोले—"याजक महाशय! आप यह क्या कर रहे हैं? 'अजेन यष्टव्यं' इस शास्त्रानुसार छाग पशु द्वारा याग करना उचित है।" मुनियोंने उत्तर दिया, "ऐसा नहीं हो सकता है, पशु हिंसा करनेसे ही पाप होता है। 'बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यं' इस वैदिकी श्रुतिके अनुसार बीज द्वारा ही याग करना उचित है। आप लोगोंने जिस शास्त्र का वचन कहा उसमें भी अज शब्दमे बीजादीका उल्लेख किया गया है वह पशुवाचक नहीं है।" किन्तु देवताओंने इसे स्वीकार करना न चाहा। वे बहुतसी युक्ति और प्रमाण दिखा कर अपना ही मत प्रबल करनेकी चेष्टा करने लगे। ऋषि भी उन लोगोंसे कम न थे। वे भी अनेक युक्ति और प्रमाणके बलसे देवताओंका मत खण्डन करने और अपने मतके प्रतिपादनमें यत्नवान् हुए। इसका विचार बहुत दिन तक चलता रहा, वाक्ययुद्ध भी बहुत हुआ, किन्तु कौनसा मत उत्तम है इसका कोई निर्णय न हो सका। ऐसे समयमें उपरिचर राजा जा रहे थे। दोनों पक्षोंने दोनों मतमें कौनसा मत उत्तम है, इसके निर्णय

करनेका भार उन्हीं पर सौंपा। राजाने देवताओंका पक्षपात कर उन्हींके मतका अनुमोदन किया। इस पर ऋषियोंने क्रुद्ध हो राजा को शाप दिया। इस शापसे ही महाराज-उसी विमानके साथ अधोविवार (भूगर्भ)-को जा रहे हैं, ऐसा देख देवताओंको बड़ी लज्जा मालूम हुई। उन्होंने राजाको विष्णुकी आराधना करने का उपदेश दिया और 'शुभ कर्ममें वसोर्धारा देना होगा' ऐसा ही विधान किया। इसीसे ही भूगर्भस्थित वसुकी प्रीति होती है। आजकल भी विवाह इत्यादि शुभकर्मोंमें 'वसोर्धारा' देनेकी नीति प्रचलित है। कालक्रमसे विष्णुने उन्हें मुक्त कर दिया।

(हिंदी-विश्वकोष, सप्तम भाग, पृष्ठ ४९३)

फुट नोट नं० २

उनके वेदार्थकी उत्तमता और मोजका और भी ठीक २ अनुमान करनेके लिये हम आर्य समाजियोंमें अग्नि और इन्द्रके स्वरूपकी जो स्वामी दयानन्दजीके अनुयायी और 'टर्मिनालोजी ऑफ दि वेदज़'के प्रसिद्ध रचयिता मि० गुरुदत्तके कथनानुसार उष्णता या घोड़ोंके सिखानेकी विद्या और शासनकर्ता जाति क्रमानुसार हैं, जांच करेंगे। मि० गुरुदत्त मैक्समूलर आदि पश्चिमी विद्वानोंकी कुशलताको चैलेंज (अस्वीकार) करते हैं और वहस करते हैं कि उन लोगोंके अनुवादोंमें साधारण शब्दों को व्यक्तिवाचक संज्ञायें मान लेनेसे अशुद्धियां हो गई हैं। यह ज्ञात रहे कि योरुपीय विद्वानोंने हिन्दू टीकाकारों, महीधर, सेन, आदिकी वृत्तियोंकी सहायतासे ही अपने अनुवाद रचे हैं:-

परन्तु मि० गुरुदत्त निरुक्तके कर्ता यस्कके मत पर जो हर शब्दको केवल उसके यौगिक अर्थमें प्रयोग करता है, आरूढ़ है। हम योरुपीय अर्थकी यथेष्ट समालोचना कर चुके हैं और इसलिये अब मि० गुरुदत्तकी कृतिकी कुशलताका अन्दाज़ा उसको प्रोफेसर मैक्समूलरके अनुवादसे तुलना करके करेंगे। जिन वाक्योंको हम तुलनात्मक निर्णयके लिये तजवीज़ करते हैं वह ही हैं जिसको मि० गुरुदत्तने स्वतः ही मुकाबिलाके लिये पसन्द किया है और वे ऋग्वेदके १६२वें सूक्तके प्रथमके तीन मन्त्र हैं। मि० गुरुदत्त और प्रोफेसर मैक्समूलर दोनोंके अर्थ 'टर्मिनालोजी औफ दि वेदज़'में दिये हुये हैं और निम्न प्रकार हैं।

मि० गुरुदत्त	प्रो० मैक्समूलर
१—"हम तेजस्वी गुणोंसे सुसज्जित फुर्तीले घोड़ेके बल उत्पन्न करनेवाले स्वभावोंका वर्णन न करेंगे या उसकी प्रबल शक्ति का वर्णन करेंगे जिस को बुद्धिमान या विज्ञानमें में प्रवीण लोग अपने उपायोंमें (यज्ञमें नहीं) काममें लाते हैं।	"आशा है कि मित्र, वरुण, आर्यमन, आयु, इन्द्र, ऋतुओं के स्वामी और मारुत हमको न झिड़कें क्योंकि हम यज्ञके समय देवताओंसे उत्पन्न हुये तेज घोड़ोंके गुणका वर्णन करेंगे।

२—"वह लोग जो यह शिक्षा देते हैं कि केवल सत कर्मों से उपार्जित धन ही संग्रह और व्यय करना चाहिये और वह जो बुद्धिमत्तामें प्रवेश हो चुके हैं जो दूसरों से पदार्थ विज्ञानके विषय में शास्त्रार्थ करनेमें और मूर्खोंको सुधारनेमें निपुण हैं, केवल वे और ऐसे ही शक्ति और बलके रसको शासनार्थ पीते हैं।

३—"उपकारी गुणोंसे पूर्ण बकरी दूध देती है जो घोडेके वास्ते एक पुष्टिकारक भोजन है; सर्वोत्तम अनाज उसी समय उपयोगी होता है जब कि चतुर रसोइया द्वारा भोज्य वस्तुओंके गुण संबन्धी

२-"जब वे घोड़ेके आगे जो खचित सोवरणके आभूषणोंसे विभूषित हैं बलिको मजबूत पकड़े हुये ले चलते हैं तब चितला (धब्बेदार) बकरा अगाड़ी चलते वक्त मिमियाता हुआ चलता है, वह इन्द्र और पूषनके प्रिय मार्ग पर चलता है।

३—"वह बकरा जो कि समस्त देवताओंके लिये अर्पित है पूषणके भागके तौर पर प्रथम तेज घोड़ेके साथ निकाला जाता है कारण कि त्वष्ट्रि स्वतः ही मन-भावन भेटको जो घोड़ेके साथ लाई जाती है कीर्ति प्रदान करती है।"
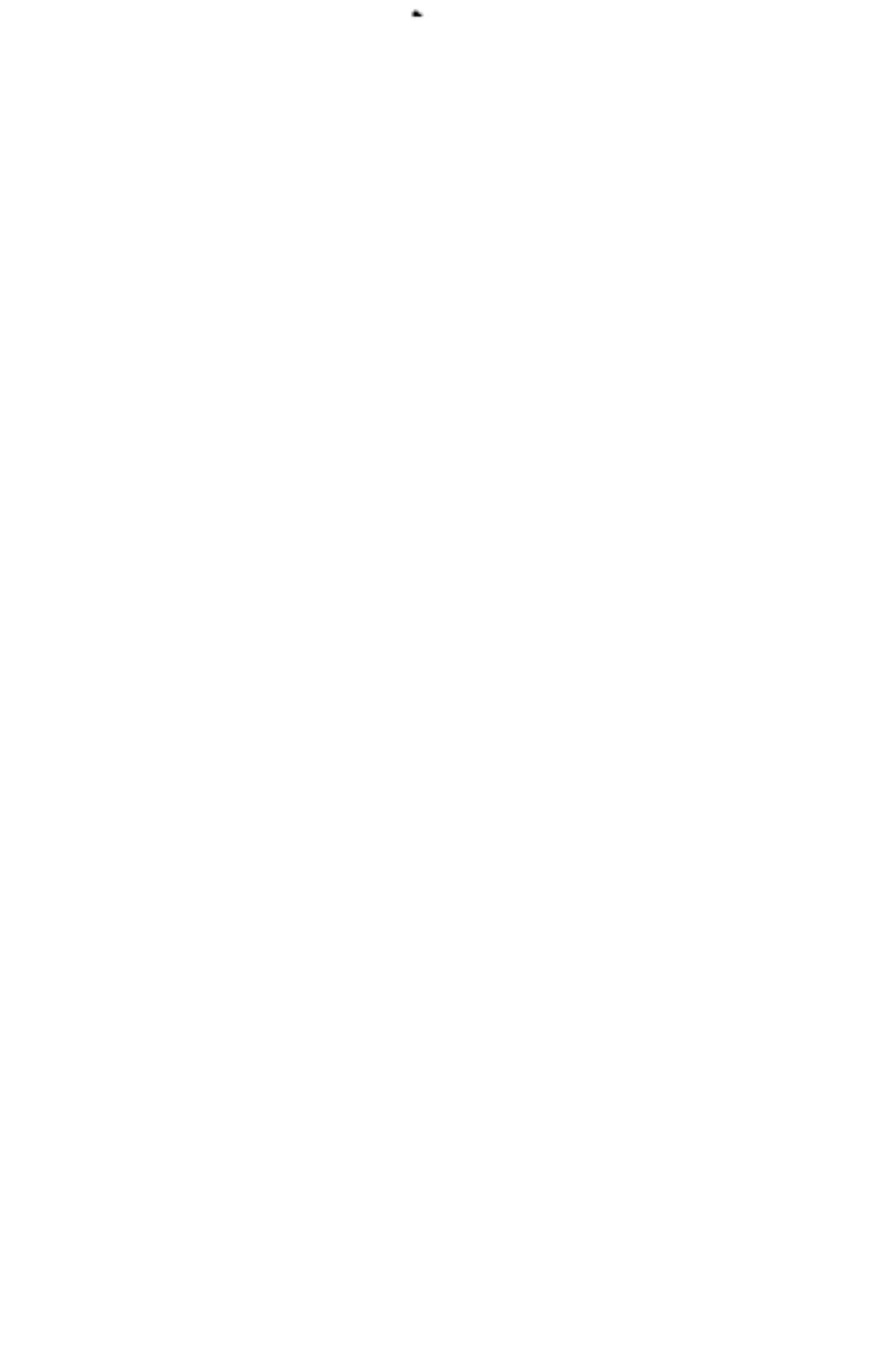
जो हर्ष पहुंचावे या जो आनन्द पूर्ण और हर्षदायक हो। इस प्रकार हर वृत्तिके विषयमें किसी न किसी दृष्टिसे सन्देह करना सदैव संभव है परन्तु यह विदित है कि इस तरीकेसे कोई संतोषजनक फल प्राप्त नहीं हो सकता है। बहुतसी दशाओंमें धातुवाद शब्दोंके अर्थको यथेष्ट रीतिसे प्रकाश कर देगा, परन्तु प्रायः यथार्थ भाव प्राप्तिके कारण शब्दोंका प्रचलित या प्रसिद्ध भावका भी प्रयोग करना अवश्यकीय होगा। यद्यपि इस बातको दृष्टिगोचर रखना होगा कि हम प्रसंग योग्यताको अपनी प्रिय सम्मतिकी पुष्टिके कारण हठपूर्वक नष्ट न कर दें। इसलिये यह कहना सत्य न ठहरेगा कि इन्द्र सदैव शासनकर्ता जाति है और शासनकर्ता जातिके अतिरिक्त और कुछ भाव नहीं रखता है, और अग्नि अश्व विद्या या उष्णताके अतिरिक्त कभी और कुछ नहीं है, इत्यादि। उष्णताके भावमें अग्नि और शासनकर्ता जातिके भावमें इन्द्र बिना शुबहा इस बातके योग्य नहीं है कि वेदके मन्त्रोंमेंसे बहुत अधिक मन्त्र उनके लिये नियत किये जांय, मुख्यतया जब उनके विरोधी क्रमानुसार शीत और ऐसी जातिको जिस पर दूसरा शासन जमाये हो वैदिक देवालयमें कहीं स्थान नहीं मिला है। बहुतसी विद्यायें, उद्यम, गुण और जानवरोंके सिखानेकी रीतियां और भी हैं जो मि० गुरुदत्तके भावके लिहाजसे अग्नि और इन्द्रसे कम आवश्यक या उपयोगी नहीं हैं, मगर हमको वेदोंमें कोई मन्त्र उनके लिये नहीं मिलता है। न तो अश्व विद्या और न

शासन विषय उपयोगी पदार्थोंके इन छह विभागों अर्थात्
(१) काल, (२) स्थान, (३) शक्ति, (४) मनुष्य-आत्मा,
(५) इच्छा पूर्वक कार्य, (६) जीवन क्रियाओंमें जो मिथा-
लोजी ऑफ दि वेदाज (देखो पृष्ठ ५३-५४) में वर्णन पाया
जाता है बावजूद इसके कि मि० मुकर्जी ने यह विभाग वहां वैदिक
देवताओंके निर्णय करनेके लिये विशेषतया बनाई थी, जो न
वैज्ञानिक हैं न पूर्ण शास्त्रिक विभागसे किसी प्रकार निर्दोष हो
सकते हैं। अथवा वास्तवमें शक्तियोंके विभागमें सम्मिलित हो
सक्ती है जैसे कि यह बताई है परन्तु उनका अपनी पौलिकों
अन्य प्राकृतिक शक्तियोंसे अग्रगामी होनेका अधिकार अभी
प्रमाणित होनेको शेष है।

इस प्रकार हम अपने आपको इस बातके माननेके लिये
बाध्य पाते हैं कि वेदोंके मन्त्रोंमें देवताओंके तौर पर वर्णित
अग्नि और इन्द्र उष्णता या अग्नि शिखा और शासनकर्ता जाति
का अर्थ नहीं रखते हैं, परन्तु आत्माके कतिपय गुणों या पर्या-
योंके वाचक हैं। इसी प्रकार वायु और पृथ्वी, आकाश और
भूतल नहीं हैं परन्तु क्रमानुसार आत्मा और पुद्गल हैं। पुष्टि
दाता पूषण इसी प्रकार आयुकर्म (जो जीवन शक्तिका नियम
करनेवाला है) रूपक है। यह कभी २ पद प्रकाशके देवताओंमें
भी गिना जाता है कारण कि आयु कर्मकी स्थिति तक ही शारीरिक
पर्यायका होना संभव है। यह बात कि पूषनका वर्णन यात्रीके
तौर पर आया है उसके यथार्थ भावका एक और सूचक है,

क्योंकि आयु बराबर कम होती रहती है अर्थात् गुजरती रहती है और अलंकारमें पथिक रूपसे बांधी जा सकती है। पूषनके दांतोंका गिरना जिसका वर्णन पुराणोंमें आया है अनुमानतः इस-लिये है कि उसके स्वरूपको निस्सन्देह साबित कर दे क्योंकि यह वृद्धावस्थाका लक्षण है। इसलिये बलिदानमें पूषणके भाग का अर्थ पुण्य कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला आयुकर्म होगा। यहां भी हम जैन सिद्धांतको इस बातकी व्याख्या करते हुये पाते हैं जो हिन्दू शास्त्रोंमें भ्रमपूर्ण है क्योंकि हिन्दू शास्त्रोंमें कोई निश्चित नियम आस्रव और बंध संबंधी दर्ज नहीं हैं और इस कारणवश यह ब्योरा रहित अस्पष्ट विचारों पर संतुष्ट रहनेके लिये बाध्य हैं। वास्तवमें कर्म बंधन चार दशाओंमें पाया जाता है और इसलिये उसके समझनेमें निम्न लिखित बातोंके जानने की आवश्यकता है—(१) १४८ कर्मप्रकृतियोंका स्वरूप जो जैन सिद्धान्त ग्रन्थोंमें वर्णित है (२) कर्म प्रकृतियोंकी मर्यादा (३) बंधकी तीव्रता और (४) मिकदार अर्थात् पुद्गलकी मिकदार जो आत्मामें शामिल हो। यह चारों प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश बंध क्रियानुसार कहलाते हैं और इनके ज्ञान बिना यह नहीं कहा जा सकता है कि कर्मके नियमसे जानकारी प्राप्त हुई। अब जहां तक आयुका संबंध है वह शेषके सात कर्मोंसे इस बातमें विलक्षण है कि उसका बंध जीवन पर्यंत एक ही दफा होता है जब कि और शेष कर्मोंका हर समय होता रहता है आस्रवमें जो पौद्गलिक माद्दा आता है उसको यों कह सकते हैं

कि यह बंधनके लिहाजसे कर्मके विभिन्न भागोंमें भाजित हो जाता है और उससे कर्म प्रकृतियां बनती हैं और इस विभाजित होनेमें विद्यमान, आन्तरिक भावोंका बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह भाव स्वयम् व्यक्तिगत विचारों पर निर्भर है। पुण्य और वैराग्य आत्माका बल और वीरताको बढ़ाते हैं और पाप उसको निर्बल और अधोगति अवस्थामें डालता है।

इन उपरोक्त विचारोंके लिहाजसे वेदोंमें वर्णन किये गये देवताओंके बलिदानका अर्थ उन कृतियोंसे समझना चाहिये जिनसे जीवन क्रियाओंका जो देवी देवताओंके रूपमें वर्णित हैं पालन पोषण होता है, और किसी भावमें भी प्राणियोंका रक्तपात नहीं समझना चाहिये। विशेष करके बलिदानका संबंध आत्माके स्वाभाविक शुद्ध गुणोंसे है जो इच्छाओंके मारने और तपस्यामें प्रगट होते हैं। पौद्गलिक आस्रव जो निःस्वार्थ कर्मसे होता है शुभ बंधनका कारण है और इस 'भेंट' (पुण्य आस्रव) का विविध प्रकारकी शुभ कर्म प्रकृतियोंमें विभाग होता है जो देवताओंका भाग कहा गया है। ऋग्वेदके १६२ वें सुक्तके प्रथम तीन मन्त्रोंके भावार्थका समझना अब कठिन नहीं है। उनका संबंध मन (=अश्व)-के वशमें करने (= नष्ट करने अलबत्ता मार डालने या बलि चढ़ाने)-से है जिसके पूर्व काम वासना का (जिसका अनुरूपक बकरा है) स्वभावतः नाश करना आवश्यक है। यह विदित होगा कि यह यज्ञ देवताओंसे सीधा संबंध रखता है और उनकी पुष्टिका तत्कारण है जब कि

प्राणियोंका किसी दूरवर्ती देवताके प्रसन्नार्थ घात करना न्याय व विज्ञान दोनोंमेंसे किसीके भी आश्रय नहीं है।

अन्य देवताओंकी ओर ध्यान करने पर युगल अश्विनी कुमार स्वांसकी दो नाड़ियों, क्रमानुसार इड़ा व पिङ्गलाके रूपक प्रतीत होते हैं) उनके बारेमें यह माना गया है कि यह बराबर चलते होते हैं कारण कि प्राणका स्वभाव सदैव चलते रहने का है। और वह वैद्य रूपमें भी माने गये हैं इस कारणसे कि स्वासोच्छ्वास नाड़ियोंके अपवित्रताको दूरकर देता है और इस कारणसे भी कि योगियों द्वारा यह बात मानी गई है कि मनुष्य के शरीरके बहुतसे रोग जीवनकी मुख्य शक्ति अर्थात् प्राणका जिसका संबंध स्वांससे बहुत घनिष्ट है उचित प्रयोग करनेसे दूर हो जाते हैं। साधारण रूपमें स्वांसको व्यक्तिगत वायुके प्रतिरूपकमें जिसका एक नाम अनिल (स्वांस) है पाया है। परन्तु देवताओंमें सबसे अधिक मुख्य ३३ हैं जिनमें ११ रुद्र ८ वसु १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति शामिल हैं।

रुद्र जीवनके उन कर्तव्योंके रूपान्तर हैं जिनका रुक जाना मृत्यु है। वह रुद्र (रुद्र याने रोना) मृत्यु समय रोदन होनेके कारण कहलाते हैं, इसलिये कि मृतक पुरुषके मित्र और कुटुम्बी जन उसकी मृत्यु पर आंसू बहाते हुये देखे जाते हैं। यह आत्माकी भिन्न २ जीवन शक्तियोंको सूचित करते हैं।

८ वसु अनुमानतः शरीरके ८ मुख्य भागोंके जो अङ्ग कहलाते हैं कर्तव्योंके चिन्ह हैं। कुछ लेखकोंके मतानुसार ८ वसुओंका

अभिप्राय ८ स्थानोंसे है, अर्थात् (१) विस्तृत शरीर (२) मह (३) वायुमण्डल (४) अलौकिक स्थान (५) सूर्य (६) आकाशकी किरणें (७) उपग्रह और (८) तारागण (देखो दि टामिनालोजी औफ दि वेद्स पृष्ठ ५५)। मगर यह अधिक संभव है कि शारीरिक अङ्गोंके विद्यमान कर्तव्य हों क्योंकि वे जीवकी शक्तियोंके विविध स्वरूप हैं। अथर्ववेदके एक वाक्यमें (देखो दि टर्मिनालोजी औफ दि वेद्स पृष्ठ ५३) उनका उल्लेख विविध शारीरिक कर्तव्योंकी भांति किया गया है और वृहदारण्यक उपनिषद्के अनुसार ३३ देवताओंके बतलानेवाला मार्गोंका हृदय-आकाशके भीतर है (देखो दि परमात्मनन्द हिस्ट्री औफ भारतवर्ष भाग १ पृष्ठ ४३२)।

अब हम आदित्योंकी ओर ध्यान देंगे जिनकी संख्या १२ कही जाती है। मगर यह विदित है कि यह सदैव इतने नहीं माने गये हैं। डब्ल्यू-जे विलकिन्स साहबके मतानुसार (देखो दि हिन्दू मैथालोजी पृष्ठ १८):—

"यह नाम (आदित्य) केवल आदित्यके वंशजोंका ही वाचक है। ऋग्वेदके एक वाक्यमें छः के नाम वर्णित हैं, अर्थात् (१) मित्र (२) आर्यमन, (३) भाग, (४) वरुण (५) दक्ष

---

* डई जैकोलियट साहब अपनी पुस्तक दि औकल्ट साइंस इन इण्डियाके पृष्ठ १८ पर मनुके आधार पर बतलाते हैं कि जीव स्वयम् देवताओंका समूह है।

और (६) अंश। और एक दूसरे मन्त्रमें उनकी संख्या सात कही गई है, यद्यपि उनके नाम वहां नहीं दिये गये हैं। एक तीसरी जगह आठका वर्णन है मगर अदिति अपने आठ पुत्रोंमेंसे जो उसके उदरसे उत्पन्न हुए थे देवताओंके समक्ष सातको लेकर आई और मार्तण्ड (आठवें) को अलग कर दिया"। चूँकि इन पुत्रोंके नाम जो वेदोंके भिन्न २ भागोंमें दिये हुये हैं एक-दूसरेसे नहीं मिलते हैं इसलिये इस बातका जानना कि आदित्य कौन कौन थे कठिन है। शतपथ ब्राह्मण और पुराणोंमें आदित्योंकी संख्या १२ बारह तक बढ़ा दी गई है।"

भविष्य-पुराणका कथन है (देखो दि परमानेन्ट हिस्ट्री औफ भारतवर्ष, भाग १ पृष्ठ ४८१ व ४८६) कि आदित्यों को देवताओंमें सबसे पहिले होनेके कारण आदित्य कहते हैं।" कुछ और लेखकोंके मतानुसार आदित्य शम्सी सालके बारह महीने हैं (देखो दि टर्मिनालोजी औफ दि वेदूज पृष्ठ ५५) और उनको आदित्य इस कारण कहते हैं कि वह संसारमेंसे प्रत्येक वस्तुको खींच लेते हैं। इस बातका कि इस कथनका ठीक अर्थ क्या है समझना सहज नहीं है, परन्तु यह ज्यादा करीन कयास है कि आदित्य आत्माके, जिसकी शुद्ध अवस्था का रूपक सूर्य, जो ज्ञानका एक उत्तम चिह्न है, मुख्य (या प्रारम्भिक) गुणोंके सूचक हैं। इसलिये आदित्य जिनकी संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, क्योंकि वह मनुष्यकी विभागबन्दी

पर निर्भर है आत्माकी उसके मुख्य उपयोग अर्थात् श्वासके सम्बन्ध रखनेवाली क्रियायें हैं। इस प्रकार वरुण जिसका मेष शम्सी वर्षके महीनेके तौर पर हास्यजनक है कर्म शक्ति का प्रतिरूपक है क्योंकि वह मनुष्योंके सत्य और झूँठको देखता है (हिन्दू मेथोलोजी पृष्ठ ३६)। एक दूसरे स्थानमें वरुण का शासनक्षेत्र विशाल करके समस्त संसारको कायम किया है, क्योंकि वह आकाशमें पक्षियोंके उड़ने दूर चलने वाली वायुके मार्ग, समुद्रोंमें चलनेवाले जहाजोंके पथको जानता है और तमाम पदार्थोंको जो हुये हैं या होंगे देखता है। वरुणको समुद्रका अधिपति माना है, अनुमानतः इस कारण कि समुद्र संसार (आवागमन)-का चिह्न है।

अन्य आदित्य इसी प्रकार वर्षके मास नहीं हो सक्ते हैं परन्तु जीवके भिन्न भिन्न गुण हो सक्ते हैं।

अब केवल इन्द्र और प्रजापतिका उल्लेख बाकी है, इनमें से पहिलेका वर्णन तो हम अन्य स्थान * पर कर चुके हैं परंतु पिछला प्रजाओं (देशों अतः जीवनके अनेक कार्यों)-का पति अर्थात् मालिक है, और हृदयके प्रभाविक कर्तव्यका चिन्ह है, (देखो दि पर्माण्यिन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष भाग १, पृष्ठ ४६२—४६६)।

उपरोक्त वर्णन समस्त हिंदू देवालयोंकी व्याख्याके लिये

* देखो दि की ऑफ नालेज और दि कानफ्लुएन्स ऑफ ओप्पोजिट्स (वा असहमत संगम)।

वस्तुतः यथेष्ट है, यद्यपि इसके देवताओंकी संख्या ३३ करोड़से कम नहीं मानी गई है, क्योंकि इस देववंशके शेष देवता मुख्य ३३ तैंतिसकी ही, जो तीनमें और अन्ततः एकमें ही यानी स्वयम् भक्तकी परम पूज्य परमात्मा स्वरूप आत्मामें ही गर्भित हो जाते हैं, मानसिक सन्तान हैं। यह विदित होगा कि हमारी व्याख्या केवल उस अप्रसंगताको जो मि॰ गुरुदत्तके अर्थमें पाई जाती है और उस प्रतिरोधी अपनेको जो योरुपियन दार्शनिकोंके भावमें विदित है, दूर नहीं करती है वरन् हमको अपने देवताओंकी जनसंख्यामें संलग्न हिन्दू काल्पनिक शक्तिका पूरा दृश्य दिखाती है। इन देवताओंकी वंशावलीके सम्बन्धमें बहुतसी उलझनें और पेंच, जिन्होंने आधुनिक खोजी विद्वानों के दांत खट्टे कर दिये हैं, उनकी काल्पनिक उत्पत्तिके आधार पर सहजमें ही सुलझ जाते हैं, क्योंकि जीवनकी विविध क्रियाओंके एक प्रकारसे एक दूसरीमें गर्भित होनेके कारण यह समय समय पर अवश्य होगा कि उनकी उत्पत्तिके विचारोंके प्रतिरूपक अपने पारस्परिक सम्बन्धियोंमें ऐसे नामुताबिक लक्षणोंसे परिपूर्ण हों जो अमर्मज्ञ मनुष्यको असंबद्ध और इसलिये झूँठे प्रतीत हों। यह विदित होगा कि कुछ देवता स्वतः अपने पिताओंके पिता माने गये हैं और कोई अपने जन्मदाताओंके समकालीन, इस तरहकी धोखेमें डालने-वाली कथायें केवल हिन्दूमतके ही विशेष लक्षण नहीं हैं वरन् यह रहस्यवाद और गुप्त शिक्षा तमाम मतोंमें पाई जाती हैं,

जैसे ईसाई मतमें बाप और बेटे (खुदा और ईसू)का समकालीन होना। इनका भाव उनके स्वरूपोंकी दार्शनिक मूल (निकास) का पता लग जाने पर सुलभ और सहज होता है वरना भूलमें पड़ने और भटकनेका कारण है। उस मनुष्यको, जो अमरीय शासन और देवाधिपत्यके भेदका पता लगाना चाहता है, चाहिये कि सबसे पहिले नयवादका* प्रामपञ्जन पूत; जिसके बिना बुद्धिमत्ताकी कुञ्जी रहस्यवादके मुर्चा लगे हुये तालोंमें जो शताब्दियोंसे बन्द पड़े हुये हैं नहीं फिरती है, प्राप्त करे। फिर उसको चाहिये कि वह अपने निजी विचारों और प्रिय विचारोंकी गठरी बांध कर अपनेसे दूर फेंक दे, तब उन शक्तियोंके पुज्य स्थानमें प्रवेश करे जो तमाम प्राणीमात्रकी प्रारब्धोंका निर्माता हैं। केवल इसी प्रकार वह वास्तविक वस्तुस्वरूपमय सत्यको पा सकेगा और भ्रम व पक्षपातका शिकार होनेसे बचेगा। तीव्र बुद्धिवाले पाठक अब इस बातको समझ लेंगे कि आत्मा जो इन्द्रियों द्वारा पौद्गलिक पदार्थोंका भोगता है इन्द्रके काल्पनिक रूपान्तरमें वायुस और पृथ्वी (जीव द्रव्य और पुद्गल) की संतान है और तिस पर भी वह अपने पिताजीका पिता इस मानी (अर्थ)में है कि सिद्धात्मन् स्वयम् अपवित्र जीवका अपवित्रता रहित शेषमात्र है। यह बात कि यह विचार सदैव

---

* विविध अपेक्षाओं या दार्शनिक दृष्टियोंके ध्यानमें रखनेको नयवाद कहते हैं।

बिल्कुल ठीक २ वैज्ञानिक नहीं है व्याख्याकी सत्यताको कमजोर नहीं करता है-क्योंकि हमारा अभिप्राय केवल रहस्यवादके माधार्यके दर्शानेसे है न कि उसकी घटनाओंके विपरीत वैज्ञानिक सत्य प्रमाणिक करनेसे।

साधारण रीतिसे यह विदित होगा कि रहस्यवादमें विरोधता और असंगतिका अंश इस बातका दृढ़ सूचक है कि विविध अपेक्षाओंसे प्राप्त किये हुये परिणामोंको नयवादकी आज्ञाका उलंघन करके मिश्रित कर दिया है। इसलिये इस कहने में विरोध होना संभव नहीं है कि जो कुछ बुद्धि और बुद्धिमत्ता के विपरीत धर्ममें पाया जाता है वह किसी सत्य बातका वर्णन नहीं है चाहे वह सत्य बात कोई व्यक्ति हो या प्राकृतिक घटना परन्तु यथार्थ और वास्तवमें एक मानसिक कल्पना है जो एक बहु प्रज कल्पना शक्तिके कारखानेमें किसी साधारण नियमके आधार पर गढ़ी गई है। वेदोंके पश्चात्की कल्पनाओंमेंसे वह कल्पना जो अब केवल हिन्दुओंहीमें नहीं वरन् तीन चौथाई मानव जातिमें प्रचलित है अर्थात् एक सृष्टिकर्ता और शासक ईश्वरकी कल्पना इस नियमका सर्वोत्तम उदाहरण दे रही है। अनुमानतः विचारका यह अंश जिसके आधार पर यह कल्पना स्थापित हुई है विश्वकर्माका स्वरूप है जो देवताओंका शिल्पकार और ऋषि कवियोंके आकार रचना संबंधी विचारों अर्थात् वस्तुओं के प्राकृतिक स्वभावका रूपक है। ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दु मस्तिष्कने द्रव्योंकी स्वाभाविक क्रियाके भेदसे चकराकर अन्ततः

यह परिणाम निकाला कि दुष्ट कर्तव्यका भी कोई कारण अवश्य होगा, और अपनी इस अस्पष्ट और धुंधली कल्पनाका कोई युक्तियुक्त आधार न पा कर एक नई प्रकारकी शक्ति अदृष्ट (अ=नहीं+दृष्ट=दृष्टिगोचर, अतः अनजान) को उसकी कायम कर दिया। कवि-कल्पनाके उसी प्रवाह पश जो देवालय के और देवताओंकी उत्पत्तिका कारण हुई, अदृष्ट भी नमया-नुसार दैविक गुणोंसे सुसज्जित हो गया और चूंकि यह आरम्भ होने और सब देवताओंके कर्तव्यका निकास और इसलिये उन सबसे अधिक बलवान अर्थात् ईश्वर (ईश्वर वह है, जो ऐश्वर्य रखता हो अर्थात् बलसाम्राज्य या स्वामीपन) माना गया था, इसलिये अन्ततः यह अप्रगट महेश्वरके सदृश संसारमें प्रसिद्ध हो गया। हिन्दू देवालयमें सर्वोच्चस्थान पा कर इस अदृष्टने अपना राज हिन्दू दुनियाके आगे फैलाना आरम्भ किया और अपने कुछ पूर्वाधिकारी मित्रादि की भांति शीघ्र ही अन्य देशोंमें जहां यह सब प्रकारके अच्छे और बुरे पदार्थोंका कर्त्ता माना गया, अपना सिक्का जमा लिया। चुनांचे 'इसीयह' नबी अपने ईश्वरको पुण्य व पाप दोनोंका कर्त्ता ठहराता है (देखो इञ्जीलकी इसीयह नबीकी किताब अध्याय ४५ आयात ६ व ७)। मुहम्मदने भी 'इसीयह' की सम्मतिके स्वीकार करने पर संतोष किया और इस बातको कह दिया कि नेकी और बदी दोनों ईश्वर कृत हैं, क्योंकि और कोई कर्त्ता दुनियामें नहीं है। पुण्य और पापके कर्त्ताके रूपमें सीधा सादा अदृष्ट जिसकी उत्पत्ति कदा-

चित एक ऐसे धानःग्रस्तके मस्तिष्कमें हुई जो दार्शनिक विवेकके लिये विशेष विख्यात न था, अब जब कि लोग उसकी मानसिक उत्पत्तिको सृष्टिकर्त्ता सम्बन्धी वादविवादके तीव्र कोलाहलके कारण भूल गये हैं, तो वह सब प्रकारकी विरोधता और असंगतिका भण्डार हो गया है। इसका विरोध होना भी असम्भव था क्योंकि मनुष्यके मस्तिष्कमें समस्त क्रिया और कर्तव्यके एक मात्र कारणके रूपमें कल्पित हो कर इसके लिये यह सम्भव न था कि वह किसी प्रकारके (कर्मजनित, स्वाभाविक इत्यादि) कृतियोंकी जिम्मेवारीको अस्वीकार कर सकता। अधिकांश निकट कालमें यह रूपक आत्माके आदर्शसे भी जो ईश्वरमें लय होना समझा गया है, संबंधित हो गया है। इस प्रकार अन्तिम शक्ति का प्रारम्भिक मानसिक विचार अब कमसे कम चार भिन्न वस्तुओंको गर्भित करता है, अर्थात् (१) प्रकृतिकी कार्यकारिणी शक्ति (२) जीव द्रव्य और अन्य द्रव्योंके कर्तव्य (३) कर्मजनित शक्ति और (४) जीवका अन्तिम उद्देश, इन ही चार भिन्न असंख्य कल्पनाओंका संग्रह है जो एक दर्शनिक विचारमें नवीन मदाखिलत करनेवालेके मस्तिष्कमें लापरवाही से स्थिर होकर अदृष्टके रूपकके तौर पर संसार शासक सम्बन्धी विषय में भूल और झगडेका उपजाऊ कारण है।

फुट नोट नं० ३

तुलनाके लिये डुमायस्सनके दि सिस्टेम औफ दि वेदांतका निम्न लिखित विषय पढ़िये (चार्लस जॉस्टन साहबका अंग्रेज़ी तर्जुमा, पृष्ठ ८):—

"........यह बात ठीक है कि आरण्यकोंमें हमको बलिदान के भावार्थके बदलनेकी विलक्षण दशा बहुधा मिलती है, यह संस्कारोंके असली रीतिसे करनेके स्थानमें उन पर भावार्थको बदलकर विचार करना बतलाया है जो धीरे २ सर्वोत्तम विचारों पर पहुंचा देता है। उदाहरणके लिये बृहदारण्यकका प्रारंभिक विषय (जो अश्वोवायुके लिये नियत है) जिसमें अश्वमेधका वर्णन है ले लीजिये:—

'ओइम्! प्रातःकाल वास्तवमें यज्ञके अश्वका सिर है, सूर्य उसका नेत्र है वायु उसकी स्वास है, उसका मुख सर्वव्यापी अग्नि है; काल बलिदानके घोड़ेका शरीर है; स्वर्गलोक उस की पीठ, आकाश उसका उदर और पृथ्वी उसके पाँव रखने की चौकी है। ध्रुव (Poles) उसके कटिभाग हैं, पृथ्वी का मध्य भाग उसकी पसुलियां है, ऋतुयें उसको अवयव हैं, महीना और पक्ष उसके जोड़ हैं, दिन और रात उसके पाँव हैं; तारे उसकी हड्डियां है; और मेघ उसका माँस है। रेगि स्तान उसके भोज्य हैं जिनको वह खाता है; नदियां उसकी अँतड़ियां हैं; पहाड़ उसके जिगर और फेफड़े हैं; वृक्ष और पौधे उसके केश हैं; सूर्य उदय उसके अगाड़ीके भाग

है; और सूर्यास्त उसके पीछेके भाग हैं, जब वह जमुहाई लेता है तो वह बिजली होती है; जब वह हिनहिनाता है तो वह गर्जता है; जब वह मूतता है तो वह बरसता है; उसका स्वर वाणी है। दिन वास्तवमें उसके सामने रखे हुये यज्ञके बरतनकी भांति है; उसका पल्ना पूर्वी समुद्रमें है रात वास्तवमें उसके पीछे रक्खा हुआ बर्तन है, उसका पलना पश्चिमी समुद्रमें है, यह दोनों यज्ञके बर्तन घोड़ेके गिर्द (इधर उधर) रहते हैं; घुड़दौड़के अश्वके तौर पर वह देवताओंका वाहन है; युद्धके घोड़ेकी भांति वह गंधर्वोंकी सवारी है; तुरंगके सदृश वह असुरोंके लिये है; और साधारण घोड़ेके समान मनुष्योंके लिये है। समुद्र उसका साथी है, समुद्र उसका पलना है।'

"यहां संसार बलिदानके घोड़ेके स्थानमें पाया जाता है; शायद इसके पीछे यही भाव है कि योगीको संसारका त्याग कर देना चाहिये (देखो बृहदारण्यक उपनिषद ३१ व ४१,), जिस प्रकार कुटुम्बका पुरुष यज्ञके वास्तविक प्रसादों (Gifto) को त्याग देता है। ठीक उसी प्रकार छांदोग्य उपनिषद (अध्याय-१ श्लोक-१) जो उद्गाताके लिये है सच्चे उद्गानाके समान शिक्षा देता है। ओ३म! शब्दको जो ब्रह्म (परमात्मा प्रतिकम) का चिन्ह है जानना और उसका आदर करना और मंत्र जिसका संबंध 'होता' से है ऐत्रेइ-आरण्यक्‌म्‌ (२, १, २) में उसी प्रकार अर्थका परिवर्तन किया गया है। तुलनाके लिये देखो ब्रह्मसूत्र

२, ३, ५५-५६, जहां इस विचारकी पुष्टि की गई है, कि इस प्रकार के चिन्हित अलंकार (प्रत्यय) शास्त्रोंमें ही केवल सही नहीं पाये गये हैं बल्कि साधारण तौर पर भी।

फुट नोट नं० ४

इस प्रकारके रूपकोंका द्रोपदीके रूपकने उदाहरण दिया जा सकता है,जो महाभारतके अनुसार पांचो पाण्डव भ्राताओंकी स्त्री थी। जैनमतके दिगम्बर आम्नायके पुराणोंमें इस बातका विरोध किया गया है। और यह कहा गया है, कि वह केवल अर्जुनकी ही स्त्री थी, जिसने उसको स्वयम्वरमें समाजके समक्ष जीता था। निस्सन्देह यह बात करीन कयास नहीं है कि ऐसे पुरुष जिनकी नेक और बदकी विचार शक्ति पाण्डवोंके समान उच्च अवस्था की थी, इतने भ्रष्टाचरण हों कि वह उसको एक ही समयमें, पाँच पतियोंसे संबंध करने पर बाध्य करें। सत्य यह है कि महान उपाख्यानके रचयिताने ऐतिहासिक घटनाओंको तोड़ मरोड़ कर अपने अलङ्कारिक आवश्यकताओंके योग्य बना लिया है, और सत्यार्थके ढूंढ लेनेका भार पाठकोंकी बुद्धि पर छोड़ दिया है। नवयौवना द्रोपदीका वधूरूपमें पांच पाण्डवोंके आग्रहमें प्रवेश करना, जीवन (Life) और ज्ञान इन्द्रियोंके संबंधसे इतनी सदृशता रखता है कि उसको महाभारतके रचयिता की अत्यन्त तीव्र बुद्धि ध्यानमें लाये बगैर नहीं रह सकी थी, और उसने उपका अर्थात् द्रोपदीका तुरन्त अपने युद्धके बड़े जो आत्माकी स्वाभाविक और कर्म शक्तियोंके अन्तिम

युद्ध और धर्म शक्तियोंकी पूर्ण पराजयका महान् अलङ्कार है, प्रयोग किया (देखो 'दि पर्मेनेन्ट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष' के० एन० आइयर कृत भाग २) । इस प्रकार जब कि ऐतिहासिक द्रोपदीको युधिष्ठिर और भीम जो उसके पतिके जेष्ठ भ्राता थे अपनी पुत्रीके समान और अर्जुनसे छोटे नकुल और सहदेव अपनी माताके समान मानते थे, तो उसकी (double) अर्थात् काल्पनिक द्रोपदी पञ्चज्ञान इन्द्रिय और जीवन सत्ताके सम्बन्धको दर्शानेके हेतु पाँचोंकी स्त्री विख्यात हुई। एक और कथाके अनुसार जो उससे सम्बंधित है सूर्य (शुद्धात्माके चिन्ह) ने उसको एक अद्भुत भाजन (बटलोई) दिया था, जिसमेंसे सब प्रकारके भोजन और और पदार्थ इच्छानुसार मिलते थे । इस इच्छित वस्तुको देनेवाली बटलोईकी व्याख्या इस भाँति है कि आत्मा स्वभावसे परिपूर्ण है और बाह्य सहायतासे स्वतंत्र है। दुष्ट दुस्सासनका द्रोपदीकी सुन्दरताको जनताके समक्ष, उसके वस्त्रको जो अलौकिक ढंगसे बढ़ता गया उतार कर प्रत्यक्ष कर, देनेमें असमर्थ रहना एक ऐसी बात है जिस से जीवके स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि बंध (द्रोपदी की रजस्वला)—अवस्थामें जीव सदैव माद्दे की तहोंमें इतना लपेटा हुआ है कि किसी प्रकार भी उसकी नग्न छविका दर्शन करना सम्भव नहीं है ।

जीव सत्ताका एक और सुन्दर अलंकार श्रीमती कगोइया-की जापानी कथामें पाया जाता है उसके पांच चाहनेवाले पांच इन्द्रियोंके सूचक हैं जो सबके सब उसको उन असली चीजोंके

स्थानमें जिनको यह चाहती व मांगती है नकली और बुरी वस्तुयें भेंट करके धोखा देते हैं, और मेनाकी पहिरात्मा (शारीरिक व्यक्ति) है जिसको छोड़कर यह चन्द्रलोक (पितृलोक)को वहाँके निवासियोंके साथ प्रस्थान कर जाती है।

मगर द्रौपदीको इन्द्रसे जो आत्माका एक और अलंकार है पृथक् समझना चाहिये। इन दोनों रूपकोंमें भेद यह है कि जब कि द्रौपदी जीवन सत्ता और ज्ञान इन्द्रियोंके सम्बंधको जाहिर करती है, इन्द्रका भावक्षेत्र उसकी अपेक्षा अधिक विशाल है। इन्द्रका जीवन यदि उसको एक ऐतिहासिक व्यक्ति या जीवित देवता माना जावे तो यह हिन्दुओंसे सदाचार सभ्यता और देवताओंके गुणोंसे घृणा उत्पन्न करनेके लिये पर्याप्त है क्योंकि सिर्फ यही बात नहीं है कि उसने अपने गुरु गौतमका स्त्रीसे भोग किया वरन् पितामह (ब्रह्माजी) ने भी उसे दण्ड देनेकी बजाय उसके पापके चिन्ह फोड़े फुन्सियोंको केवल उसकी प्रार्थना पर नेत्रोंमें परिवर्तन करके उसे और भी सुन्दर बना दिया, परन्तु इस कथाके यथार्थ अर्थका कोई संबंध इतिहाससे नहीं है और इससे प्रतीत होता है कि उसके रचयिताको आत्मज्ञानका बहुत कुछ बोध था, और अलंकारोंकी कवि-रचनाकी अनुपम योग्यता प्राप्त थी। उस अलंकारिक भाषाका जो इस रूपकके सम्बन्धमें व्यवहृत हुई है पूर्ण रीतिसे रस लेनेके लिये यह आवश्यक है कि हिन्दुओंके सृष्टि रचना सम्बंधी विचारोंको जो सांख्यमतानुसार पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न होती है ध्यानमें रक्खा जावे।

लेकिन यहाँ पर हमारा अभिप्राय सांख्यदर्शनोंके सृष्टि-विकाश संबंधी विचारोंसे नहीं है वरन् इसीसे है कि पुरुषसे जीवात्माओं की उत्पत्ति किस प्रकार होती है जिसका वर्णन हिन्दुओंके प्रमाणित शास्त्र योगवाशिष्टमें निम्न प्रकार दिया गया है।

"उस ब्राह्मणके समान जो अपने उच्च पदसे च्युत हो कर शूद्र हो जाता है, ऐसा (ईश्वर) भी जीवमें पतित हो जाता है। सहस्रों जीव प्रत्येक सृष्टिमें चमकते रहेंगे। उस उत्पन्न करनेवाले विचारके आन्दोलनसे जीविक ईश्वर प्रत्येक विकाश अवस्थामें उत्पन्न होंगे। परन्तु इसका कारण यहाँ (इसलोकमें) नहीं है। जो जीव कि ईश्वरसे निकलते हैं और उसी महायतासे उन्नति करते हैं अपने कर्मों द्वारा बारम्बार जन्म मरणको प्राप्त होते हैं। हे राम! यह कार्य्य कारणका संबंध है जो कि जीवोंकी उत्पत्तिके लिये कोई कारण नहीं है तो भी सत्ता और कर्म आपसमें एक दूसरेके लिये कारण हैं। समस्त जीव वगैरह कारणके ईश्वरीय पदसे निकलते हैं, मगर उनको उत्पत्तिके बाद उनके कर्म उनके दुःख और सुखके कारण होते हैं। और संकल्प जो आत्मबोधकी अक्षमताको मायासे उत्पन्न होता है सब कर्मोंका कारण है।"

हिन्दुओंका ऐसा विचार एकसे अनेक हो जानेके बारेमें है, और यद्यपि यह विचार सदोष है और उन कठिनाइयोंसे जो साधारण मानसिक विचारों [illegible] गुणोंको पदार्थोंसे जिनमें

यह पाये जाते हैं प्रपञ्च समझनेके कारण पैदा होते हैं, बचनेके लिये बाहरी उपायके तौर पर है, तो भी इस विचारको मनमें रखना उस मर्मके जाननेके लिये जो हिन्दुओंकि इन्द्रादि देवताओं संबंधी कल्पनाओंमें पाया जाता है आवश्यक है।

इन्द्रके अपनी गुरुकी पत्नी अहिल्यासे भोग करनेवाली कथाकी व्याख्या करते हुये यह बात जानने योग्य है कि आत्मा का पुद्गलसे समागम नितान्त मना है, क्योंकि मोक्षका मर्म ही एकका दूसरेसे पृथक् होना है। इससे आत्माका पुद्गलमें प्रवेश करना एक वर्जित किया है, और इस कारण उसे व्यभिचार कहा गया है। अब चूंकि पुद्गल बुद्धिके ज्ञानका, जो जीवका शिक्षक है, मुख्य विषय है, इसलिये आत्मा और पुद्गलका समागम गुरुकी पत्नीके साथ व्यभिचार कर्म हो जाता है। आत्माके पुद्गलमें अखण्ड एकताके रूपमें प्रवेश करनेका फल अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति है (जैसे योगवाशिष्ठके उल्लेखमें वर्णन है)

जिनमेंसे प्रत्येक जीव पौद्गलिक परमाणुओं
जाता है और महेका अंधकारमयी प्रभावके
के सदृश होता है। परन्तु यह जीव
और विश्वास द्वारा (जिसको
अर्थात् ईश्वरकी उपास
लेते हैं और फिर प्राप्त

इन्द्रकी बाबत कहा जाता है कि उसको सोम रसका भी बहुत शौक है जो मुसलमानोंके मतकी शराब तहूराके सदृशता रखता है। यह एक प्रकारकी मदिरा है जो मगन करती है मगर मस्त नहीं करती, और जो आत्माके स्वाभाविक आनन्द का चिन्ह है।

इन्द्रका वाहन हाथी है जो विस्तार, और बलवाला है, इसलिये पुद्गलका चिन्ह है। इस विचारका सार यह है कि आत्मा स्वयम् चल फिर नहीं सकती है परन्तु पुद्गलकी सहायतासे चल फिर सकती है। इस विचारकी और भी व्याख्या स्वयम् हाथीके वर्णनमें पाई जाती है जिसके एक सिरसे तीन सूंड निकले हुये माने गये हैं और यह एक विलक्षण चिन्ह है जो अलंकारके भावको सिद्ध करनेके लिये निस्सन्देह गढ़ा गया है क्योंकि तीन सूंड पुद्गलके तीन गुणोंके वाचक हैं अर्थात् सत्व, रजस् व तमस्के जो सांख्यमतके अनुसार प्रकृतिके तीन मुख्य गुण हैं। संकोच और विस्तारकी शक्ति जो जीवका मुख्य गुण है इन्द्रकी प्रशंसा करने पर बढ़ने और शची (पवित्रता या पुण्य)-से पृथक् होने पर अत्यन्त लघु रूप धारण कर कमल (सहस्रार चक्र) दण्ड (अनुमानतः मेरु दण्ड) के भीतर छिप जानेसे दर्शायी गई है।

फुट नोट में ४

केवल थोड़ेसे विचारोंसे यह विदित हो जायगा कि यह दर्शन शास्त्र न तो हर्षदायक तौर पर निर्माण किये गये हैं और न वह वैज्ञानिक अथवा सैद्धान्तिक शुद्धतासे लक्षित हैं। आरम्भ में ही वह सैद्धान्तिक दृष्टि (नय) वादको भुला देते हैं और बहुत करके प्रमाणकी किस्मों और ज़रायोंसे अपनी अनभिज्ञताको प्रगट करते हैं। उनकी तत्त्व-गणना भी अवैज्ञानिक और भ्रमपूर्ण है।

सैद्धान्तिक दृष्टिसे देखते हुये विद्वान् हिन्दू भी इस बातको मानने पर बाध्य हुये हैं कि उनके छहों दर्शनोंमेंसे कोई भी सिद्धान्तानुकूल ठीक नहीं है। निम्न लेख, जो कि 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज' की नयी पुस्तककी भूमिकासे उद्धृत किया गया है, हिन्दू भावोंका एक अच्छा नमूना है:—

> "यह (विज्ञान भिक्षु जो सांख्यदर्शन पर एक प्रसिद्ध टिप्पणी टीकाकार है) इस बातको जानता था कि छह दर्शनोंमेंसे कोई भी.........जैसे कि कई बार हम पहिले कह चुके हैं पश्चिमीय विचारके अनुसार पूर्णतः सद्धान्तिक ढंगका दर्शन न था बल्कि वे सारोंके सदृश हैं, जिनमें कि सृष्टि उत्प.. और उपनिषदोंके किसी .. विशेष प्रकारके .. गूढ़ विषयोंको समझाये मानसिक और आत्मि.. योग्यता नहीं रखते थे।"

निस्सन्देह भूमिकाकार हिन्दू सिद्धान्तके दोषोंको, उसके शिष्योंकी अपक्व बुद्धिके आधार पर छिपानेका प्रयत्न करता है, परन्तु गुरुके पूर्ण ज्ञानको सिद्ध करनेवाले हेतुओंकी अनुपस्थितिमें, यह व्याख्या बुद्धि नहीं वरन् विश्वास द्वारा प्रेरित की हुई ही मानी जा सकी है। इसको प्रतिपादनकी यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु मूल सिद्धान्तकी योग्यतासे है, और उनके यथेष्ट न होनेके बारेमें तो साफ २ सवाल है।

'प्रमाण'के उपायों (ज़रायों) के विषयमें भी इन दर्शनोंमें एकमत्ता नहीं है। वैशेषिकोंके मतानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान (Observation and inference) ही केवल माननीय प्रमाण हैं, नैयायिक लोग इन दोनोंके अतिरिक्त शब्द (आगम) व उपमा को और बढ़ाते हैं, और मीमांसक लोग 'अर्थापत्ति' (Corollary or inference by implication) और कभी २ 'अनुउपलब्धि' (inference by negation) को भी शामिल करते हैं। परन्तु उपमान (analogy) वास्तवमें सिवाय एक प्रकार के 'अनुमानाभास' (fallacy of inference) के और कुछ नहीं है, और 'अर्थापत्ति' (corollary) व अनउपलब्धि सचे न्याय संगत अनुमानमें गर्भित हैं। शेषके तीन अर्थात् प्रत्यक्ष ('direct observation) अनुमान (inference) और आगम (reliable testimony) साधारणतया सत्यज्ञानके मुख्य उपाय हैं, बावजूद इसके कि वैशेषिक आगमको नहीं मानते हैं, क्योंकि विश्वसनीय साक्षी ही उन वस्तुओंके ज्ञान प्राप्तिका द्वार है जो

प्रत्यक्ष और अनुमान (perception and inference) दोनोंहै पर हैं। विला शुबहा सांख्यदर्शनमें यह तीनों प्रमाण माने हैं मगर यह वेदोंकी अप्रामिकको साधारण ही मान लेता है और उसकी अनुमान संबंधी विधियोंमें उपमान भी शमिल है जैसे इस उदाहरणमें कि राव आमके वृक्षमें और अवश्य लगा होगा क्योंकि एक वृक्षमें बौर लगा हुआ दिखाई देता है (देखो मि० टीरागाम सातियाका अँगरेजी अनुवाद प्रकाश किया हुआ सांख्य-कारिका अँगरेजी अनुवाद पृष्ठ ३०)। इस हिसाबसे तो एक कुत्तेको दुम कटी देख कर यह परिणाम भी निकल सकता है कि सब कुत्ते दुमोंको कटवाते होंगे।

अब हम तत्वकि विषयको लेते हैं जिनका ठीक निर्णय किये बिना सिद्धान्त या धर्ममें सफलता नहीं हो सकी। तत्वोंका भाव उन्हीं मुख्य बातों या नियमोंसे है जिनके द्वारा अनुसंधानके विषयका अध्ययन किया जाता है, और उसका निर्णय बुद्धि-मतानुसार करना आवश्यकीय है अर्थात् वेढंगे तौरसे नहीं वरंतु वैज्ञानिक ढंगसे कायदा करीनाके मुताबिक; क्योंकि धर्मका उद्देश और अभिप्राय जीवोंको उन्नति और अन्ततः मुक्ति है इसलिये उसकी खोज आत्माके गुणों और उन कारणोंके, जो उसकी स्वाभाविक स्वच्छता और शक्तिको घटा देते हैं और जो उसको सिद्धि प्राप्तिके योग्य कर देते हैं, निर्णय करनेसे होती है। सच्चे तत्व इस कारण वही हैं जो जैन सिद्धान्त में हैं अर्थात् जीव अजीव इत्यादि। शेष तो तत्वाभास

हैं जो वास्तवमें असत्य हैं मगर तत्वका वस्त्र पहिने हुए हैं।

इन बातोंको मनमें रख कर हम इस बातका निर्णय करेंगे कि षट् दर्शनोंको कहां तक सच्चे तत्वोंका पता लगा। प्रथम ही सांख्य दर्शनमें निम्न २५ तत्वोंका वर्णन है—

(१) पुरुष (जीव)

(२) प्रकृति, जिसमें तीन प्रकारका गुण, सत्व (बुद्धि) रजस्, (क्रिया) तमस् (स्थूल) सम्मिलित हैं।

(३) महत, जो पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे उत्पन्न होता है।

(४) अहंकार।

(५—९) पञ्च ज्ञान-इन्द्रियां।

(१०—१४) पञ्च कर्म-इन्द्रियां—हाथ, पांव, वचन, लिङ्ग, गुदा।

(१५—१९) पांच प्रकारकी इन्द्रिय उत्तेजना — स्पर्श, रस आदि जो पांच इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखती हैं।

(२०) मन।

(२१—२५) पांच प्रकारके स्थूल भूत—आकाश, वायु, अग्नि, अप, पृथ्वी।

जैसे पहिले ही दो में कुछ थोड़ासा झलकता है। काल और आकाश जैसे बड़े मुख्य-पदार्थोंको यह विचारमें नहीं लाते जब कि साधारण वस्तुओं जैसे कर्म-इन्द्रियोंको इन्हीं अलग स्थान दिये गये हैं। इस बातका भी पता नहीं लगता कि उनका चुनाव किस आधार पर किया गया है क्योंकि इसी प्रकारके बहुतसे आवश्यकीय कार्य जैसे पाचन क्रिया, रुधिरका संचालन इत्यादि बिलकुल छोड़ दिये गये हैं। यह पूर्व दर्शन धर्म, आत्मज्ञान और मुक्तिको वैज्ञानिक और पूर्णतया युक्ति अनुसार स्थापना समझा जाता है तो भी इस विषयमें किसी बातके समझानेका प्रयत्न नहीं किया गया है, और आध्यात्मिक विचारका यह सम्पूर्ण विभाग तत्त्वोंमें होनेके कारण विलक्षण प्रतीत होता है।

नैयायिक लोग निम्न १६ तत्त्वोंको मानते हैं।

(१) प्रमाण	(९) निर्णय
(२) प्रमेय	(१०) वाद
(३) संशय	(११) जल्प
(४) प्रश्न	(१२) वितण्डा
(५) दृष्टान्त	(१३) हेत्वाभास
(६) सिद्धान्त	(१४) छल
(७) अवयव	(१५) जाति
(८) तर्क	(१६) निग्रहस्थान

यहां भी एक त्रुटि इस बातके बोधके लिये पर्याप्त है कि यह तत्त्व केवल न्यायका ज्ञान करा सकते हैं। परन्तु न्याय

निस्सन्देह धर्म नहीं है, यद्यपि वह व्याकरण, गणना और अन्य साइन्सेजकी भांति ज्ञानका एक उपयोगी विभाग है। अगर न्यायके नियमोंको तत्व कहा जा सका है तो हमको व्याकरणके भागों—संज्ञा, क्रिया इत्यादि—और गणित विद्याके नियमोंको भी तत्व कहना पड़ेगा परन्तु यह स्पष्टतया वाहियात है। नैयायिक लोग इस कठिनाईसे अपने दूसरे तत्वके अभिप्रायमें बारह प्रकार के पदार्थोंको शामिल करनेसे बचनेकी कोशिश करते हैं अर्थात् (१) आत्मा (२) शरीर (३) ज्ञानइन्द्रिय (४) अर्थ (जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, गर्भित हैं) (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (वचन, मन, या शरीर द्वारा उपयोग) (८) दोष (जिसका भाव राग द्वेष, मिथ्या ज्ञान या मूढ़ता है) (९) प्रत्येक भाव (पुनर्जन्म) (१०) फल (नतीजा या परिणाम) (११) दुःख (१२) अपवर्ग (दुःखसे छुटकारा)।

परन्तु परिणाम बड़ी गड़बड़ है क्योंकि दूसरा तत्व प्रमेय से सम्बंध रखता है जिसमें समस्त ज्ञेय पदार्थ और इसलिये समस्त अस्तित्व पदार्थ अन्तर्गत हैं और इस कारण वह बारह ही पदार्थों पर सीमित नहीं हो सका है। इस भाग (किस्म) बंदीका नियम-विरुद्ध होना, इससे स्पष्ट है कि इसमें अत्यंत आवश्यकीय बातों जैसे आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया है और ऐसी अनावश्यकीय बातों पर जैसे स्पर्श रस इत्यादि पर आवश्यकतासे अधिक ज़ोर दिया गया है। जल्प, वितण्डा और छलका (जातिको शुमारमें

न होने पर भी) अलग अलग तत्वोंके तौर पर क़ायम किया जाना सख्त मानसिक फूहड़पनकी मिसाल है।

वैशेषिक लोग जिन पदार्थोंका उल्लेख करते हैं—

(१) द्रव्य	(५) विशेष
(२) गुण	(६) समवाय
(३) कर्म	(७) अभाव
(४) सामान्य	

परन्तु यह भाग गन्दी तत्व-गणना नहीं है बल्कि मरस्वू और मिलके तरीक़ोंके सदृश एक प्रकारकी विभाग गन्दी है। चुनांचे मेजर बी० डी० बासुके प्रकाश किये हुए कणादके वैशेषिक सूत्रोंकी भूमिकाके योग्य लेखकने इस बातको अपना सच्चा कर्तव्य समझा कि इस दर्शनके दोषोंके लिये पाठकसे क्षमा मांगे। वह लिखता है :—

"वैशेषिक दर्शन पदार्थोंको एक विशेष और पूर्ण निश्चित दृष्टिसे देखता है। यह उन लोगोंकी विचार दृष्टि है जिनके लिये कणादके उपदेश बनाये गये थे। इस कारण यह एक उतना पूर्ण व स्वतन्त्र विचारोंका दर्शन नहीं है जितना कि यह वैदिक और अन्य प्राचीन ऋषियोंकी जो कणादके समयके पूर्व गुज़रे हैं शिक्षाकी, उसकी उत्पत्तिके उपकरणोंके लिहाज़से वृद्धि या प्रयोग है।"

वैशेषिकोंकी तत्वगणनाका आरम्भ वास्तवमें द्रव्य, गुण, और कर्मकी मामबंदीसे होना कहा जा सकता है। द्रव्य भी

प्रकारके कहे जाते हैं। (१—४) चार प्रकारके अर्थात् पृथ्वी, अप, अग्नि व वायुके परमाणु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) जीवात्मा (९) मन। गुण निम्न प्रकारके हैं अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श संख्या, नाप, प्रथकता, संयोग, विभाग, पूर्वकता, पश्चात्, समझ, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न। परंतु शब्द आकाशका गुण कहा गया है। कर्म पांच प्रकारका है, अर्थात् उत्क्षेपन (ऊपरकी ओर फेंकना) अपक्षेपन (नीचेकी ओर फेंकना) आकुञ्चन (सिकुड़ना) प्रसारनम् (फैलाना) और गमनम् (चलना)। इस प्रकारकी संख्या द्रव्य, गुण और कर्मकी है जो वैशेषिकोंने दी है, परन्तु यहां भी हमको सच्चे तत्वोंके वर्णनको कोई कोशिश नहीं मिलती है। कुल विधि अत्यन्त अनिश्चित और बेढंगी है। सामान्य परिणाम दोषपूर्ण है। कर्मोंकी भागबन्दी अर्थहीन और गुणोंका वर्णन भद्दा और अनियमित है। वायु, अप, अग्नि और पृथ्वी चार भिन्न द्रव्य नहीं हैं, वरन् एकही द्रव्य अर्थात् पुद्गलके चार भिन्न रूप हैं। और शब्द ईथरका गुण नहीं है वरन् एक प्रकारका आन्दोलन है जो पौद्गलिक पदार्थोंके हिलने जुलनसे पैदा होता है। मनको एक नये प्रकारका द्रव्य मानना भी स्पष्ट रीतिसे युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जीव और पुद्गलसे प्रथक् मन कोई अन्य पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार हिन्दू सिद्धान्तके तीन अतिप्रसिद्ध दर्शन संधान हीन युक्ति रहित विचारको प्रगट करते हैं और पूर्ण रीतिसे

न्यायमुक्त कहलानेके अधिकारी नहीं हैं। शेषके सांख्य अर्थात् योग, वेदान्त और जैमिमनीके मीमांसाकी भी दशा इस सम्बन्धमें कुछ इनसे अच्छी नहीं है। यह तत्व आधार पर निर्धारित नहीं हैं और इसलिये इन पर ध्यान देनेकी यहां हमें आवश्यकता नहीं है।

निकटस्थ कालमें कुछ लोगोंने अद्वैत वेदान्तको जिसकी शिक्षा यह है कि ब्रह्म पदकी प्राप्तिके लिये केवल ब्रह्मका जानना ही आवश्यकीय है, अतिशय महत्वपूर्ण माना है। मगर वेदान्ती यह नहीं बता सकता है कि ब्रह्मके जानने पर भी, यह जीव, स्वयं ब्रह्म क्यों नहीं हो गया। यदि यह सिद्धान्त वैज्ञानिक विचारके आधार पर अवलम्बित होता तो यह संशय किया गया होता कि ज्ञान और सिद्धि दो भिन्न चीजें हैं, बावजूद इसके कि आत्माके उच्च आदर्शकी सिद्धिके प्रारम्भके लिये ज्ञान अत्यन्त आवश्यकीय है। यहां भी हमको जैनमत शिक्षा देता है कि सत्य-मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप है परन्तु इनमेंसे कोई भी पृथक् तौर पर मार्ग नहीं है। पतञ्जलि भी अपनी शक्ति को सामान्य बातोंके वर्णनमें व्यय कर देते हैं, और आत्माके स्वरूप और बन्धनको नहीं बतला सके हैं और न वह ही मार्गको जिसको वह आत्मा और पुद्गलके सम्मिश्रण को दूर करनेके लिये सिखलाते हैं कार्यरूप ... सके हैं।